ISSN No. 2582-9548

nbt.india
एकः सूते सकलम्

साहित्य और संस्कृति की द्विमासिकी

पुस्तक संस्कृति

वर्ष - 11 ◆ अंक - 4 ◆ जुलाई - अगस्त 2026 ◆ मूल्य ₹40.00

विभाजन-विभीषिका से उपजे प्रश्न ● कठपुतलियों का संसार ● सूफी परंपरा में कृष्ण-भक्ति

इन थैलों में सभ्यता की संस्कृति है ● 'लाइब्रेरी ऑन व्हील्स' से यात्रा में ज्ञानवृद्धि

शिक्षा मंत्रालय
भारत सरकार
MINISTRY OF EDUCATION
Government of India
सत्यमेव जयते

nbt.india
एकः सूते सकलम्

District Administration
Srinagar

NCPUL

चिनार
पुस्तक महोत्सव
چنار بُک فیسٹیول

CHINAR BOOK FESTIVAL
3rd EDITION
SKICC, Srinagar

18 - 26 जुलाई 2026 | प्रातः 11 बजे से रात्रि 8 बजे

एसकेआईसीसी, श्रीनगर

कشش
आकर्षण

- کتاب میلہ — पुस्तक मेला
- ادبی سیشن — साहित्यिक चर्चा
- بچوں کی سرگرمیاں — बाल गतिविधियाँ
- کلچرل پرفارمنس — सांस्कृतिक कार्यक्रम

प्रवेश निःशुल्क
داخلہ مفت

सभी पुस्तकों पर 10% की छूट
تمام کتابوں پر 10 فیصد رعایت

अधिक जानकारी के लिए कृपया संपर्क करें : nbtexhibition3@gmail.com

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार
NATIONAL BOOK TRUST, INDIA
Ministry of Education, Government of India

5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, वसंत कुंज,
नई दिल्ली–110070
ईमेल : office.nbt@nic.in
वेबसाइट : www.nbtindia.gov.in

हमारी वेबसाइट पर जाने के लिए स्कैन करें।

नई दिल्ली | पुणे | बेंगलुरु | कोलकाता | चेन्नई | हैदराबाद | गुवाहाटी | अगरतला | पटना | कटक | कोच्चि | भोपाल | देहरादून | लखनऊ

Follow us on @nbt_india | instagram.com/nbtindia | YouTube youtube.com/nbtindia | fb.com/NationalBookTrustIndia

ISSN NO. 2582–9548

पुस्तक संस्कृति

साहित्य एवं संस्कृति की द्विमासिकी

वर्ष-11; अंक-4; जुलाई-अगस्त, 2026

प्रधान संपादक
प्रो. मिलिंद सुधाकर मराठे

संपादक
दीपक कुमार गुप्ता

संपादकीय सहयोग
अल्पना भसीन, विजयलक्ष्मी पाण्डेय

विज्ञापन एवं प्रसार
जनसंपर्क अनुभाग

उत्पादन
अनुज कुमार भारती, पवन दुबे

चित्रांकन
ईशान त्रिवेदी

सज्जा/डिजाइन
ऋतुराज शर्मा, समरेश चटर्जी

सदस्यता शुल्क
व्यक्तियों के लिए
एक प्रति : ₹ 40.00
वार्षिक : ₹ 225.00
(शुल्क भारत के लिए मान्य)

संपादकीय पत्र-व्यवहार
संपादक
पुस्तक संस्कृति
राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत
पता : 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया,
वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070
फोन : 011-26707876
ई-मेलः editorpustaksanskriti@gmail.com

प्रकाशक व मुद्रक अनुज कुमार भारती द्वारा नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया (राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत) 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070 के लिए प्रकाशित और सालासर इमेजिंग सिस्टम्स, ए-97, सेक्टर-58, नोएडा-201301 (उत्तर प्रदेश) से मुद्रित।

संपादक
दीपक कुमार गुप्ता

सर्वाधिकार सुरक्षित : प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक और प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है। प्रकाशित रचनाओं के विचार से प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।

इस अंक में

संपादकीय — *प्रो. मिलिंद सुधाकर मराठे* — 2

इतिहास — **विभाजन-विभीषका से उपजे प्रश्न**—*डॉ. चन्द्र त्रिखा* — 3

कला — **कठपुतलियों का संसार**—*यशवंत कोठारी* — 6

साहित्य — **सूफी परंपरा में कृष्ण-भक्ति**—*डॉ. पूर्णचंद शर्मा* — 8

संस्कृति — **व्यास पूर्णिमा : हमारे जीवन का व्यास और मर्म की प्यास** —*डॉ. राजरानी शर्मा* — 12

ललित निबंध — **इन थैलों में सभ्यता की संस्कृति है**—*प्रियदर्शन* — 15

पुस्तक — **‘लाइब्रेरी ऑन व्हील्स’ से यात्रा में भी ज्ञान-वृद्धि** —*गौरी शंकर वैश्य ‘विनम्र’* — 18

पर्यावरण — **वन, प्रकृति और भविष्य : सतत सह-अस्तित्व की अनिवार्यता** —*डॉ. दीपक कोहली* — 21

जीवनावस्था — **दूसरी पारी के बदलते मायने**—*डॉ. दिनेश पाठक* — 24

राष्ट्र — **झंडा अंगीकरण दिवस : तिरंगे की गौरवगाथा** —*दीपक कुमार भारद्वाज* — 28

शब्द-ज्ञान — **आओ, भारतीय भाषाएँ सीखें** — 32

समाज — **आदिवासी समाज का नवजागरण**—*हरेंद्र प्रताप सिंह* — 34

लोकगीत — **लोकगीतों में गूँजता आत्मीय राग**—*अलका सिन्हा* — 37

व्यक्तित्व — **संकल्प की ज्योति : जेठी बाई**—*डॉ. रंजना शर्मा* — 39

फोटोग्राफी — **छाया-चित्र : अनंत संभावनाओं की अर्थछटाएँ**—*हिमांशु व्यास* — 41

पुस्तक समीक्षा — 44

साहित्यिक गतिविधियाँ — 58

पुस्तकें मिलीं — 63

संकल्प से सिद्धि की यात्रा

जन-संग्राम से नवप्रभात तक

अगस्त का महीना भारतीय इतिहास और चेतना के कैलेंडर में केवल कुछ तारीखें भर नहीं है, बल्कि यह हमारी राष्ट्रीय आत्मा के रूपांतरण, उसके अभूतपूर्व संघर्ष और स्वाधीनता के रूप में अंतिम प्रतिफल का एक जीवंत आख्यान भी है। जब हम 09 अगस्त (भारत छोड़ो दिवस) और 15 अगस्त (स्वतंत्रता दिवस) को एक ही वैचारिक फलक पर रखकर देखते हैं, तो इतिहास की दो सबसे शक्तिशाली तारीखें मिलकर एक स्वाधीन राष्ट्र की आधारभूमि बन जाती है।

09 अगस्त यदि भारतीय जनमानस के 'महासंकल्प' की हुंकार थी, तो 15 अगस्त उस संकल्प की 'परम सिद्धि' का उत्सव। इन दोनों ऐतिहासिक पड़ावों के बीच का जो फासला है, वही वस्तुतः आधुनिक भारत के निर्माण की सबसे प्रखर और परिणामदायी यात्रा है।

इतिहास साक्षी है कि स्वतंत्रता कभी भिक्षा में नहीं मिलती, वह सामूहिक बलिदान और अटूट संकल्प की कोख से जन्म लेती है। 09 अगस्त, 1942 को बंबई के गवालिया टैंक मैदान (अब अगस्त क्रांति मैदान) से उठी 'भारत छोड़ो' की पुकार ने ब्रिटिश साम्राज्य की चूलें हिला दी थीं। यह आंदोलन केवल एक राजनीतिक घटना भर नहीं था, बल्कि दो सदियों की दासता, शोषण और अपमान के विरुद्ध भारतीय नागरिकों का सशक्त और अंतिम विद्रोह भी था। क्रिप्स मिशन की विफलता के बाद, महात्मा गांधी ने महसूस किया कि अब याचना का समय बीत चुका है। अहिंसा के इस पुरोधा ने जब देश को 'करो या मरो' का मंत्र दिया, तो उसमें एक निर्णय का संकल्प था। गांधी जी के शब्दों में–

"मैं आपको एक छोटा-सा मंत्र दे रहा हूँ। आप इसे अपने दिलों में अंकित कर सकते हैं और अपनी हर साँस में इसे अभिव्यक्त होने दे सकते हैं। वह मंत्र है : 'करो या मरो'। हम या तो भारत को स्वतंत्र कराएँगे या इस प्रयास में अपनी जान दे देंगे।" 09 अगस्त की सुबह होते-होते कांग्रेस के लगभग सभी शीर्ष नेताओं (गांधी, नेहरू, पटेल, आज़ाद) को गिरफ्तार कर लिया गया। ब्रिटिश हुकूमत का मानना था कि शीर्ष को काट देने से आंदोलन स्वतः दम तोड़ देगा, परंतु यहीं पर इतिहास ने एक नया मोड़ लिया। जब नेता जेल में थे, तब भारत की आम जनता खुद अपनी नियति की नियंता बन गई। अरुणा आसफ अली ने गवालिया टैंक मैदान में तिरंगा फहराकर ब्रिटेन के अखंड साम्राज्य को चुनौती दी। जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया और अच्युत पटवर्धन जैसे युवा नेताओं ने भूमिगत होकर क्रांति की कमान सँभाली। मजदूर, किसान और स्कूलों-कॉलेजों के छात्र, गृहिणियाँ, सब-के-सब इस महायज्ञ की समिधा बन गए। यह आंदोलन इस बात का प्रमाण था कि जब किसी राष्ट्र की सामूहिक चेतना जागृत होती है, तो उसे किसी औपचारिक सांगठनिक ढाँचे की आवश्यकता नहीं होती, हर नागरिक स्वयं में एक योद्धा बन जाता है।

यदि 09 अगस्त इतिहास का वह तूफान था, जिसने औपनिवेशिक वृक्ष की जड़ों को हिला दिया, तो 15 अगस्त, 1947 वह गरिमामय और गौरवशाली सवेरा था, जब उस वृक्ष के मलबे पर एक संप्रभु राष्ट्र का उदय हुआ।

14 अगस्त की मध्यरात्रि को जब दुनिया सो रही थी, भारत एक नए जीवन और स्वतंत्रता के नवप्रभात में कदम रख रहा था। देश के पहले प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपने कालजयी भाषण में सदियों की पीड़ा को कुछ इस तरह प्रकट किया–

"बहुत साल पहले हमने नियति से एक वादा किया था, और अब समय आ गया है कि हम अपना वादा निभाएँ... आज रात बारह बजे, जब दुनिया सो रही होगी, भारत जीवन और स्वतंत्रता के लिए जाग उठेगा।" रात्रि के 12 बजे भारत राष्ट्र नियति से साक्षात्कार कर रहा था। किंतु 15 अगस्त की सुबह जितनी प्रसन्नतादायी थी, उसकी पृष्ठभूमि उतनी ही लहूलुहान थी। देश का विभाजन इतिहास की सबसे बड़ी और दुखद त्रासदियों में से एक था। एक तरफ दिल्ली के लाल किले पर तिरंगा लहरा रहा था, तो दूसरी तरफ नोआखली और पंजाब की गलियों में विभाजन की विभीषिका इंसानियत को शर्मशार कर रही थी। महात्मा गांधी उस दिन दिल्ली के उत्सवों से दूर, नोआखली में दंगों की आग बुझाने में लगे थे। 15 अगस्त एक साथ उल्लास और त्रासदी की तारीख बन गई थी।

इतिहास की इन दोनों तारीखों को अलग-अलग करके देखना इतिहास के साथ अन्याय होगा। 09 अगस्त, 1942 के बिना 15 अगस्त, 1947 की कल्पना असंभव है। इन दोनों के बीच एक गहरा और अटूट संबंध है।

इसलिए जब हम 15 अगस्त को स्वाधीनता प्राप्ति का उत्सव मनाएँ तो अपने उन महान हुतात्माओं को न भूलें, जिन्होंने अपने प्राणों की आहुति देकर हमें आजादी का सवेरा देखने का अवसर दिया। यह भी नहीं भूलें कि स्वाधीनता केवल कुछ नेताओं के संघर्ष या सुभाष, भगत सरीखे केवल कुछ क्रांतिकारियों के बलिदान का प्रतिफल नहीं थी, बल्कि यह तो करोड़ों-करोड़ आम भारतीय जनों की, दासता से मुक्ति की चाह में उनके भी गुमनाम त्याग और बलिदानों का प्रतिफलन थी।

आइए, स्वाधीनता के इस महोत्सव को हम सब अपने उन सभी पूर्वजों को स्मरण कर और उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित कर भविष्य के नए और समृद्ध भारत के संकल्प के साथ मनाएँ, जिन्होंने स्वाधीनता के प्रभात को लाने में अपने जीवन को होम कर दिया था।

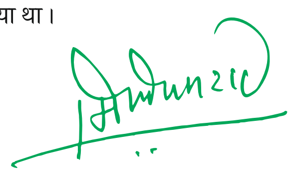

(प्रो. मिलिंद सुधाकर मराठे)
प्रधान संपादक, **पुस्तक संस्कृति**

विभाजन-विभीषिका से उपजे प्रश्न

भारत-विभाजन की चर्चा निष्कर्षों और उपलब्धियों, वंचनाओं, स्मृतियों व जश्न एवं त्रासदी के मिश्रित एहसास के कारण अब भी लगभग आठ दशक तक प्रासंगिक व सामयिक चर्चा का विषय बनी हुई है।

अब दो दशक बाद भारतीय उपमहाद्वीप की इस विभीषिका की शताब्दी मनायी जाएगी। इसे कटुस्मृति के रूप में याद किया जाएगा या भारतीय इतिहास की एक भयावह त्रासदी के रूप में इसकी प्रस्तुति होगी या फिर 'इवेंट मैनेजमेंट' के लिए यह एक ऐतिहासिक अवसर होगा, कुछ कहा

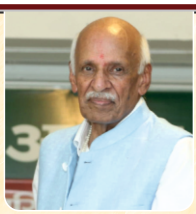

डॉ. चन्द्र त्रिखा

डॉ. त्रिखा एक प्रतिष्ठित लेखक एवं वरिष्ठ पत्रकार हैं। वे विशेष रूप से हिंदी और उर्दू साहित्य में अपने विशिष्ट योगदान के लिए जाने जाते हैं।

संप्रति : वे हरियाणा साहित्य एवं संस्कृति अकादमी के उर्दू प्रकोष्ठ के निदेशक के रूप में कार्यरत हैं। वे भारत-पाक विभाजन के प्रत्यक्षदर्शी रहे, इसलिए उनके लेखन में विभाजन का दर्द और दंश प्रभावी रूप से लक्षित होता है।

लेखन : अब तक 22 से अधिक पुस्तकों का लेखन एवं संपादन, जिनमें से कुछ प्रमुख हैं—'कैसे भूलें आपातकाल का दंश', 'तेरा राज नहीं आएगा रे', 'साहिर : जन्म शताब्दी वर्ष पर विशेष', 'बड़ी रौनकें हैं फ़क़ीरों के डेरे', 'प्रौद्योगिकी में हिंदी' आदि।

सम्मान : हिंदी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) और पंजाब सरकार के शीर्ष साहित्यिक पुरस्कारों समेत कई राष्ट्रीय सम्मानों से सम्मानित।

संपर्क : मोबाइल— 9417004423

नहीं जा सकता। मगर कुछेक निष्कर्ष तो चर्चा में बने ही रहेंगे :

1. जिन राष्ट्रीय महानायकों को हमने प्रेरक महामानव माना, वे सब आठ दशक पूर्व कितनी हड़बड़ी में थे सत्ता-सूत्र सँभालने के लिए?
2. क्या इन शिखर-महानायकों को अनुमान भी था कि विभाजन की विभीषिका लगभग डेढ़ करोड़ परिवारों को उनकी जड़ों से उखाड़ देगी और 10-15 लाख लोगों की जान ले लेगी?
3. विघटन एवं बिखराव व टकराव की जो एक नई जीवनशैली इस विभीषिका से उपजी है, क्या वह बिखरावों व विखंडन का सिलसिला थाम पाएगी?
4. क्या हम इस उपमहाद्वीप के सामान्यजन सांस्कृतिक बिखराव के खंडहरों में ही जीने के लिए अभिशप्त रहेंगे?

बहरहाल, सारे प्रश्नों का समेकित उत्तर ढूँढ़ने का प्रयास करके देखें। यद्यपि, यह 20 वर्ष बाद का विषय है, मगर इस बारे में दिमागी माथापच्ची का सिलसिला जारी हो चुका है। प्रश्न यह है कि वर्ष 2047 अर्थात भारत-विभाजन की शताब्दी के अवसर पर भारत, पाकिस्तान व बाँग्लादेश में आम आदमी की प्रतिक्रिया क्या होगी?

यही संभावना है कि तब तक मेरे जैसे ऐसे लोग शेष नहीं बचे होंगे, जो विभाजन की त्रासदी के प्रत्यक्षदर्शी हों। जो इक्का-दुक्का बचे भी होंगे, शायद वे भी कुछ सटीक बता पाने की स्थिति में नहीं होंगे। मगर विभाजन की विभीषिका के त्रासदीपूर्ण इतिहास का दस्तावेजीकरण हो चुका होगा। अब भी ललक बनी हुई है दोनों देशों के आम नागरिकों में कि क्या अच्छे पड़ोसी के रूप में वे दोनों देश और अब तीसरा बाँग्लादेश परस्पर सुख-दुख बाँट पाएँगे या फिर नफरत, हिकारत और टकराव का सातवाँ दरिया बहता रहेगा?

अब तक विभाजन 1947 पर अंग्रेजी, हिंदी, उर्दू व पंजाबी में कृतियों की एक बाढ़-सी आ चुकी है। सभी में लेखकों,

पत्रकारों व राजनेताओं की अपनी-अपनी जुगाली है। लेकिन ऐसा भी नहीं कि घटनाओं, शख्सियतों, प्रामाणिक बयानों का दस्तावेजीकरण नहीं हुआ। फर्क सिर्फ निष्कर्षों का है।

वर्ष 1947 की 14-15 अगस्त को पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में त्रासदी एवं जश्न का मिश्रित रूप देखने में आया था। दुष्यंत कुमार की एक काव्य-पंक्ति उन दिनों की एक झलक देती है—

कैसे मंजर सामने आने लगे हैं
गाते-गाते लोग चिल्लाने लगे हैं

स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री अर्द्धरात्रि (14-15 अगस्त) को अपना बहुचर्चित संबोधन 'ट्रिस्ट विद् डेस्टिनी' संसद के केंद्रीय कक्ष में और अगले दिन लाल किले की प्राचीर से दे रहे थे और उधर, सिर्फ 24 घंटे पूर्व पाकिस्तान के प्रथम गवर्नर जनरल मुहम्मद अली जिन्ना अपने नवघोषित देश पाकिस्तान के करोड़ों लोगों से मुखातिब हो रहे थे।

ब्रिटेन का यूनियन जैक सभी सरकारी इमारतों से विदाई ले चुका था और अब उसका केवल नाम ही इतिहास की पुस्तकों में शेष बचा था। तीसरी ओर, रेडक्लिफ देश के रक्तिम विभाजन की लकीरों को अंतिम रूप देने में व्यस्त था। रेडक्लिफ, जो उस समय भी आतंकित था कि उसके द्वारा खींची जा रही लकीरों पर कैसी प्रतिक्रिया होने वाली थी। वह अपनी विभाजन-लकीरों को अंतिम रूप 17 अगस्त की सायं तक ही दे पाया था। यह भी विचित्र विसंगति है कि 17 अगस्त की शाम से पहले नेहरू व जिन्ना, दोनों को ही पता नहीं था कि उनके नए देश की सीमाएँ कहाँ तक होंगी। पुरानी दम तोड़ती पीढ़ी ने अपनी अगली तीन पीढ़ियों को भी अतीत से मुक्त नहीं होने दिया। दो बार भूगोल बदला है, मगर इतिहास अभी तक विस्मृति के हाशिए पर अतीत को बुहार नहीं पा रहा। शायद यह मुमकिन भी नहीं है। भारतीय उपमहाद्वीप ने 75 वर्ष पूर्व जो भोगा, जिया था, वह किसी-न-किसी रूप में फिर से कुनमुनाने लगता है। कभी विश्वभर में नए-नए रूपों में उभरने वाली शरणार्थी-गाथाओं के बहाने, कभी राखीगढ़ी व हड़प्पा के संदर्भों में तो कभी करतारपुर-कॉरिडोर के बहाने, अतीत बार-बार स्वयं को दोहराता है।

फिलहाल यह तो तय है कि 15 अगस्त, 1947 के पूर्व की स्थिति बहाल नहीं हो सकती। इतिहास में 'रिवर्स गियर' का प्रायः कोई प्रावधान नहीं होता। वैसे, भूगोल में जर्मनी ने भी बर्लिन की दीवार तोड़ी, सोवियत संघ व यूगोस्लोविया व चेकोस्लोवाकिया में बदलाव भी आए और वर्ष 1971 में बाँग्लादेश स्वतंत्र राष्ट्र बना। यह कहावत कि 'इतिहास अपने आपको दोहराता है' इस संदर्भ में लागू नहीं होती।

वर्ष 1965 व 1971 में जो कुछ हुआ उसकी आशंकाएँ आगे भी कुनमुना रही हैं। वर्ष 1971 में उस भूखंड का एक और टुकड़ा अलग हुआ। भविष्य के गर्भ में क्या है, कुछ कहना संभव नहीं है, लेकिन टकराव व नफरत के सिलसिले जारी रहे तो कुछ भी संभव है। भारतीय पंजाब ने आतंकवाद में जो कुछ झेला या उससे पूर्व, 1971 में जो कुछ हुआ या जो कुछ अब भी भारत-पाक सीमा, विशेष रूप से कश्मीर क्षेत्र में जारी है, उग्र आशंकाएँ हैं कि अभी भी टूटन संभव है। यह टूटन बलूचिस्तान में होती है या किसी भारतीय क्षेत्र में इसके लिए कोई हरकत पाकिस्तान की ओर होती है, दोनों ही स्थितियों में इस उपमहाद्वीप की साझी संस्कृति की फुलकारी उधड़ती है। यह समूची कवायद सिर्फ इसलिए है कि वर्ष 1947 में इस उपमहाद्वीप के करोड़ों लोगों ने जो संत्रास झेला है, उसकी किसी भी तरह पुनरावृत्ति न हो। भूगोल की लकीरें, जेहन की गहराइयों तक न गहराएँ, हम यही दुआएँ कर सकते हैं।

भाषा, रहन-सहन, संस्कृति व विरासत की साझेदारी के अलावा भी बहुत कुछ है, जो हमें जोड़कर रखे हुए है। इतना तो सुनिश्चित बनाना ही चाहिए कि अब भविष्य में इस उपमहाद्वीप में कोई 'रिफ्यूजी' न हो।

1947 के विभाजन की सौवीं वर्षगाँठ (14-15 अगस्त, 2047) दिल्ली, लाहौर, ढाका और इस्लामाबाद में अलग-अलग, मिश्रित और गहरी भावनाओं के साथ मनायी जाएगी। सौ वर्षों बाद यह केवल एक ऐतिहासिक घटना नहीं, बल्कि एक युग के अंत और एक नई पीढ़ी की पहचान का दिन होगा।

संभावित प्रतिक्रियाएँ इस प्रकार हो सकती हैं—

1. नई दिल्ली (भारत)— स्मृति और विजय

विभाजन-विभीषिका स्मृति दिवस (14 अगस्त) : भारत सरकार सौवीं वर्षगाँठ पर बड़े पैमाने पर विभाजन के पीड़ितों को याद करेगी। स्कूलों, सरकारी दफ्तरों में मौन और प्रदर्शनी लगाई जा सकती है।

15 अगस्त को, विभाजन के दर्द से आगे बढ़कर 'विकसित भारत' के संकल्प का जश्न मनाया जाएगा, जो विभाजन के दौरान मिली अस्थिरता के विपरीत एक मजबूत, विकसित राष्ट्र का प्रतीक होगा।

भावनात्मक यादें : बुजुर्ग पीढ़ी विभाजन की कहानियों को याद करेगी, लेकिन युवा पीढ़ी अपने-अपने देश की आर्थिक और तकनीकी प्रगति पर ध्यान केंद्रित करेगी।

> **“एक बूढ़ा व्यक्ति घिसटता-घिसटता मेरे करीब आ गया। ‘मुझे दो महीने होने लगे हैं धक्के खाते-खाते। कोई नहीं सुनता। मुझे लेने कोई नहीं आया और मेरी जेब में पैसे नहीं कि मैं अपने पैसों से मेरे ‘अपनों’ तक किसी बस में बैठकर पहुँच सकूं।’ मैं बेबस था। उसे ताकता रहा।”**

2. लाहौर और इस्लामाबाद (पाकिस्तान)– राष्ट्रवाद और पहचान

पाकिस्तान में 14 अगस्त, 2047 को पाकिस्तान के निर्माण और भारत से अलगाव के गौरवपूर्ण जश्न के रूप में मनाया जाएगा। लाहौर, जो विभाजन में सबसे अधिक प्रभावित हुआ, वहाँ के बुजुर्गों के लिए यह एक उदासीन और दर्दनाक दिन भी हो सकता है, जहाँ वे बँटवारे से पहले के ‘साझा पंजाब’ को याद करेंगे।

3. ढाका (बाँग्लादेश)– 1971 की विरासत

दोहरी स्मृति : ढाका के लिए यह 1947 (पाकिस्तान का हिस्सा बनने) की तुलना में 1971 (स्वतंत्रता) की स्मृति अधिक महत्वपूर्ण होगी। 14 अगस्त, 1947 का दिन पाकिस्तान से शोषण की शुरुआत के रूप में याद किया जाएगा।

बंगाली चेतना : सौ वर्ष बाद, बाँग्लादेश अपनी अलग बंगाली भाषायी और सांस्कृतिक पहचान पर गर्व करेगा, जो बँटवारे के बाद भी बरकरार रही।

सौ वर्षों बाद के बदलाव

युवा पीढ़ी का नजरिया : 2047 की पीढ़ी के लिए विभाजन एक पाठ्यपुस्तक की कहानी होगी, न कि व्यक्तिगत दर्द। डिजिटल और तकनीकी प्रगति के कारण, लोग डिजिटल माध्यम से पुरानी यादें और परिवार के इतिहास साझा कर सकते हैं। उम्मीद की जा सकती है कि सौ वर्षों बाद विभाजन का गहरा घाव हालाँकि मिटेगा नहीं, लेकिन एक समझदारी और स्वीकार्यता में बदल जाएगा, जिससे दोनों देशों के बीच बेहतर संबंध बन सकें।

उन दिनों वहशीयत व संवेदनहीनता किस चरम तक पहुँच चुकी थी, इसका अनुमान अपने समय के प्रख्यात स्तंभ लेखक फिक्र तौंसवी के एक लेख से लगाया जा सकता है।

07 नवंबर, 1947 को प्रकाशित वह संस्मरणात्मक लेख मूल रूप में इस प्रकार था–

और आखिर वह दिन आ गया। मुझे लाहौर से बाहर वाघा-बॉर्डर पर छोड़ने चौधरी, आरिफ, राही और साहिर भी आ गए। सब की आँखें नम भी थीं, मगर साहिर और राही नमी के बावजूद मुस्करा भी रहे थे। एक अजीब-सी रहस्यपूर्ण मुस्कान। मेरे मुँह से बस यही निकला, ‘ज़िंदगी आखिर बँट गई।’ हम सभी को अलग होने में थोड़ा वक्त लगा। तभी गोरखा सिपाही गुर्राया, ‘अरे! तुम इधर आओ। तुम इतनी लंबी बातें यहाँ पर नहीं कर सकते।’ तब हम सब लोग बगलगीर हुए और मैं खामोशी के साथ उनसे विदा होकर उस तरफ चल दिया, जिधर ट्रकों पर लोग लादे जा रहे थे। गोरखा सिपाही मुझे अब भी घूरे जा रहा था। उसे अभी इस बात का प्रमाण कहाँ मिला था कि मैं भी ‘म्लेच्छ’ नहीं था। बहरहाल, मैं शरणार्थी शिविर की ओर चल दिया।

रिफ्यूजी आ-जा रहे थे। कुछ ज़ोर-ज़ोर से विलाप कर रहे थे। किसी की पुत्रवधू की आबरू लुट चुकी थी। यह सब उनकी आँखों के सामने घटा था। एक बूढ़ी ज़ोर-ज़ोर से चीखे जा रही थी–कोई मुझे मेरे बच्चे, पोते लौटा दे। मुझे आज़ादी नहीं चाहिए। अपने बच्चे वापिस चाहिए। एक अधेड़-सी औरत उस बूढ़ी को हौसला दे रही थी, ‘ओ बेबे! शुक्र कर, तू तो दहाड़ मारकर अश्क बहा रही हो, मेरी तो आँखों में अब अश्क भी नहीं बचे!’

पूरे शरणार्थी शिविर में ऐसा ही माहौल था। मैं एक कोने से दूसरे कोने तक चक्कर काट आया। सभी जगह रोती, छाती पीटती औरतें और दीवारों से सर टकराते लोग। एक जगह एक औरत अपने पल्लू में ‘कुछ’ उठाए एक लेडी डॉक्टर का कोट पकड़े चिल्ला रही थी, ‘राम के नाम पर, कृष्ण भगवान के नाम, मेरे इस नन्हे बच्चे को बचा लो।’ लेडी डॉक्टर उससे मुक्त होने के लिए छटपटा रही थी। करीब ही एकत्र लोगों व कैंप-प्रबंधकों से वह कह रही थी, ‘कोई मुझे इस पागल औरत की पकड़ से छुड़ाओ। इसका बच्चा मर चुका है और यह हठ कर रही है कि मैं बच्चे को बचा लूँ।’

और इसी तरह के दृश्य आस-पास बिखरे पड़े थे। मैं देख रहा था। बेबस था। एक बूढ़ा व्यक्ति घिसटता-घिसटता मेरे करीब आ गया। ‘मुझे दो महीने होने लगे हैं धक्के खाते-खाते। कोई नहीं सुनता। मुझे लेने कोई नहीं आया और मेरी जेब में पैसे नहीं कि मैं अपने पैसों से मेरे ‘अपनों’ तक किसी बस में बैठकर पहुँच सकूँ।’ मैं बेबस था। उसे ताकता रहा।

लापता औरतों का पूरा-पूरा विवरण अभी तक अँधेरे में है। दोनों देशों की साझी कमेटी के सामने जो विवरण आए उनके अनुसार, यह संख्या 80 हजार से भी अधिक थी, मगर सभी अपने-अपने घरों को लौट नहीं पाईं। कुछ को उनके अपने ही परिवारों ने वापस लेने से इनकार कर दिया। ऐसे ही ढेरों प्रश्नों के उत्तर अब तक भी नहीं मिल पा रहे।

कठपुतलियों का संसार

कठपुतलियों की देश और विदेश में लोकप्रियता और प्रसिद्धि दिलाने हेतु स्व. देवीलाल सामर ने बहुत काम किया। उदयपुर का भारतीय लोककला मंडल परंपरागत और नवीन कठपुतलियों तथा उनके समाजशास्त्रीय अध्ययन पर काफी काम कर रहा है। कठपुतलियाँ चाहे पुरातन हों अथवा नवीन, सैद्धांतिक दृष्टि से एक ही नियम में बँधी हैं और किन्हीं वास्तविक प्राणियों की नकल नहीं हो सकती। न्यूनतम अंग-भंगिमाओं से अधिकतम भंगिमाओं का भ्रम उत्पन्न करना पारंपरिक एवं आधुनिक कठपुतलियों का परम धर्म है।

कठपुतली को संक्षेप में 'पुतली' भी कहा जाता है। लोकनाट्य एवं बोलचाल में

'पुतली' का प्रयोग प्रचलित है। पुतली सिद्धांत की दृष्टि से पुरातन पुतलियाँ जितनी आधुनिक थीं, उतनी आधुनिक पुतलियाँ नहीं। चित्रकला की तरह भारतीय पुतलियाँ अनुकृति मूलकता से हटकर आभासिक रही हैं। आंध्र प्रदेश, राजस्थान एवं ओडिशा की पुतलियाँ इसी क्रम में आती हैं।

आधुनिक पुतलियाँ पारंपरिक पुतलियों का ही परिष्कृत रूप हैं। इन पुतलियों को पारंपरिक पुतली सिद्धांत से ही जोड़ा जा सकता है। पारंपरिक पुतलियाँ अपने नियमों से बँधी होने के कारण विकास नहीं पा सकीं। राजस्थान के पारंपरिक कठपुतलीकार अमरसिंह राठौर या राणा प्रताप के खेल से आगे नहीं बढ़ना चाहते। ओडिशा के पुतलीकार गोपी-कृष्ण के कथानक को नहीं छोड़ते। आंध्र के छाया पुतलीकार रामायण एवं महाभारत के ही खेल करते हैं। यही कारण है कि यह परंपरा अब मृतप्राय-सी हो चुकी है, जबकि इस कला के विषय प्रमुख रूप से शिक्षा, मनोरंजन सामाजिक विसंगतियों आदि से संबंधित होते हैं। 'वसीला' नामक कठपुतली नाटक ने भारतीय व सोवियत समाज को नजदीक लाने में मदद की थी।

भारत को कठपुतलियों का जन्म-स्थल नहीं माना जाता है, लेकिन एशिया अवश्य ही कठपुतलियों का जन्म-स्थल है। चीन, जापान, मलेशिया, इंडोनेशिया व बर्मा आदि देशों के प्राचीन साहित्य में कठपुतलियों के विवरण मिलते हैं।

पुतलियाँ अपने विकास के समय से ही मानवीय नाटक से जुड़ गईं। विश्व के पुतली विशेषज्ञ इस बात पर एक मत हैं कि मानवीय नाटक के रंगमंचीय अवतरण से पूर्व ही पुतलियाँ विकास पर थीं। पुतलियाँ मूल रूप से मनुष्य की धार्मिक भावनाओं को विकसित करती रहीं।

यही कारण है कि पुतलियाँ प्रकृति से जुड़ गईं और धार्मिक व पारंपरिक प्रसंगों को पुतलियों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाने लगा। पुतली नाट्य लोक शैली का ही एक

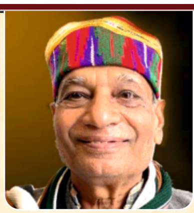

यशवंत कोठारी

जन्म : 3 मई, 1950, नाथद्वारा, राजस्थान

शिक्षा : एम.एससी. (रसायन विज्ञान), राजस्थान विश्वविद्यालय, जी.आर.ई., टोफेल (1976), आयुर्वेदरत्न

प्रकाशन : लगभग दो हजार लेख, निबंध, कहानियाँ धर्मयुग, सारिका, राजस्थान पत्रिका, अमर उजाला, मधुमती आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित; आकाशवाणी, दूरदर्शन, इंटरनेट से प्रसारित।

सम्मान : पुस्तक 'मास्टर का मकान' पर राजस्थान साहित्य अकादमी का 'कन्हैयालाल सहल' पुरस्कार (1999-2000), साक्षरता पुरस्कार (1996) सहित अनेक राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित

संप्रति : राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर में रसायन विज्ञान के एसो. प्रोफेसर एवं 'जर्नल ऑफ आयुर्वेद' तथा 'आयुर्वेद' बुलेटिन के प्रबंध संपादक पद से सेवानिवृत्त।

संपर्क : मोबाइल– 9414461207

नाटक था, जो लोकनाट्यों के रूप से विकसित हुआ। पुरातन शैली में प्रस्तुत करने वाले अधिसंख्य पात्र आज भी मुखौटा लगाते हैं। अफ्रीका, जावा, बाली, श्रीलंका, बर्मा में ऐसे नाट्य आज भी बहुत प्रचलित हैं। भारत में भी यही स्थिति है। मेवाड़ के गवरी, दक्षिण के यक्ष नाट्य आदि में मुखौटों का बड़ा महत्व होता है।

दक्षिण भारत के प्रायः सभी लोकनाट्यों की अंग-भंगिमाएँ वेशभूषा आदि पुतलियों की तरह ही हैं।

यूरोपीय देशों में पुतली परंपरा 300 वर्ष की मानी गई है। भारत में यह आदि मानव से जुड़ी है। सांस्कृतिक कार्यो में पुतली का प्रयोग और प्रतीकों का महत्व सर्वविदित है। यूनान, मिस्र आदि देशों में पुरातन समाधियों की खुदाई में अनेक ऐसे पुतले मिले हैं, जो

मृतात्माओं की शांति के लिए गाड़े जाते रहे। भारत में भी इसके प्रमाण उपलब्ध हैं कि पुतलियों से ही नाटकों की उत्पत्ति हुई है।

पुराणों में कहीं-कहीं पुतलियों का उल्लेख मिलता है। रामायण, महाभारत आदि में भी इनका उल्लेख है। इन ग्रंथों में पुतलियों से संदेशवाहक का काम लिया जाता था। महाभारत में वृहन्नला द्वारा पुतलियाँ सिखलाने का उल्लेख है। इसी प्रकार, चमड़े, कागज और कपड़े की पुतलियों का भी वर्णन है।

सातवीं शताब्दी में 'नीलकंठ' के भाष्य में छाया पुतलियों का वर्णन प्राप्त होता है। 'कथासरित्सागर' में एक दस्तकार का उल्लेख है, जो बच्चों के मनोरंजन के लिए पुतलियाँ बनाता है। 'पंचतंत्र' में कठपुतलियों का वर्णन है। विक्रमादित्य की 'सिंहासन बत्तीसी' में पुतलियों के करतबों का वर्णन किया गया है।

आज भी राजस्थान के पुतली नट भाट, राव और भांडों की तरह भांभी बलाई एवं रेबारी जाति में पाए जाते हैं। जयपुर, उदयपुर व पश्चिमी राजस्थान में ये जातियाँ पाई जाती हैं। जयपुर में सैकड़ों परिवार कठपुतलियाँ बनाते हैं, बेचते हैं और नाट्यों का प्रदर्शन करते हैं।

इसी प्रकार, पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और गुजरात में भी भाट व नट जातियाँ कठपुतलियों के खेल करती हैं। राजस्थान के भवाई, भोपों, मंगलिये, काबड़िये, खरगड़े, तेजोर आदि भी पुतलियों का खेल दिखाते हैं।

जयपुर के कठपुतली बनाने वालों ने अपनी एक कॉलोनी भी बनाई है, जहाँ पर कठपुतलियों के निर्माण, रँगाई-पुताई आदि का काम होता है। यहाँ से कठपुतलियाँ दुकानों, एम्पोरियमों तथा विदेशों को भेजी जाती है।

ये लोग होटलों, स्कूलों आदि में कठपुतलियों के खेलों तथा अमरसिंह राठौर या महाराणा प्रताप का प्रदर्शन करते हैं। वे लकड़ी की विभिन्न प्रकार की कठपुतलियाँ बनाकर बेचते हैं। एक कलाकार हरभजन ने बताया कि एक कठपुतली के निर्माण में लगभग सौ रुपये का खर्च आता है और दुकानदार सस्ते में लेकर इसे काफी ऊँचे दामों में बेचते हैं। एक कलाकार औसतन पच्चीस से तीस रुपये कमा पाता है। घर की स्त्रियाँ भी इसमें काम करती हैं। प्रदर्शन के समय कठपुतलियों में सारंगीवाला, अनारकली, तबलेवाला, सजना (नर्तक), जोगी और पिपलीशाह होता है। इसके अलावा, साथ में गीत और हारमोनियम का संगीत भी चलता है। सामान्यतया, धागों से कठपुतलियों को चलाया जाता है।

स्व. देवीलाल सामर जी ने कठपुतलियों के क्षेत्र में बहुत कुछ किया। उन्होंने पारंपरिक खेलों के अलावा, नवीन कथाकृतियों, नाटकों, कहानियों को कठपुतलियों के माध्यम से प्रस्तुत किया।

कठपुतलियों के द्वारा शिक्षा देने की भी एक वृहद् योजना पूरी की गई है।

पुतलियों के निम्न प्रकार हैं :

- दस्ताना पुतली—इन पुतलियों को हाथ में पहनकर चलाया जाता है।
- छड़ पुतली—छड़ों से चलाई जाती है।
- सूत्र संचालित पुतली—सूत्र या धागों से चलने वाली।
- छाया पुतली—चमड़ा, गत्ता, कोर्ड आदि से बनती है।

लकड़ी, लोहे, गत्ते व कागजों से भी कठपुतलियाँ बनाई जाती हैं। सामान्यतः, लकड़ी की कठपुतली अधिक प्रयुक्त होती है।

शैक्षणिक कठपुतलियों की बात करें, तो इससे बच्चों को विभिन्न प्रकार की शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार के प्रयोग भारत व विदेशों में काफी लोकप्रिय हो रहे हैं। इससे बच्चे रोचक तरीके से पाठ सीखते हैं। कठपुतलियों के संबंध में भारत में ही नहीं, विदेशों में भी खूब काम हो रहा है।

कठपुतलियों के संसार से बाहर आते समय मेरे दिमाग में एक ही बात थी, क्या हम सभी नियति के हाथों की कठपुतलियाँ नहीं हैं?

सूफी परंपरा में कृष्ण-भक्ति

डॉ. पूर्णचंद शर्मा

जन्म : 01 दिसंबर, 1946, गाँव किरोड़ी, जिला हिसार, हरियाणा

शिक्षा : हिंदी-संस्कृत में स्नातकोत्तर एवं पीएच-डी.

प्रकाशन : 'हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य-परंपरा', 'अनोखा स्वयंवर (कथा)', 'लोक संस्कृति के क्षितिज', 'माटी के स्वर' (काव्य-संग्रह संपादित), 'लोकगीतों की अस्मिता', 'पंडित लखमीचंद ग्रंथावली', 'पं. मांगेराम ग्रंथावली', 'लोकरंगमंच के आयाम' एवं 'विश्वगुरु भारत' आदि।

पुरस्कार : हरियाणा साहित्य अकादेमी द्वारा पंडित माधवप्रसाद मिश्र पुरस्कार, पंडित लखमीचंद पुरस्कार, सूर पुरस्कार तथा हरियाणा साहित्य अकादेमी की साहित्य विशेषज्ञ समिति के मनोनीत सदस्य।

संप्रति : पूर्व प्रोफेसर, हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक। वर्तमान में स्वतंत्र लेखन।

भारत की विराट संस्कृति का सतरंगा भवन विविध जातियों, धर्मों एवं परंपराओं से निर्मित हुआ है, जिसमें अनेक वातायन एवं खिड़कियाँ हैं, जिनसे स्वच्छ, सुशीतल वायु प्रवेश करके इसे निरंतर अम्लान बनाए रखती है। समन्वयात्मकता की दृष्टि से यह उस महोदधि के समान है, जिसमें अनेक मत-मतांतरों, वर्णों, आदर्शों एवं रीति-रिवाजों की भिन्न-भिन्न धाराएँ समाकर एकाकार हो जाती हैं।

यह गंगा-जमुनी तहजीब के विकास का अनुपम उदाहरण है, जिसमें हिंदू और मुस्लिम

अमीर खुसरो देहलवी और निजामुद्दीन औलिया, हैदराबाद डेक्कन, सन् 725

संस्कृतियाँ मिलकर ताफ़्ता रंग की भाँति उद्भासित हो रही हैं। इस संस्कृति को चार चाँद लगाने में मुसलमान कवियों, कलाकारों एवं सूफी-संतों ने अपना यथेष्ट योगदान दिया है। इस कड़ी में प्रसिद्ध संगीतज्ञ एवं उच्च कोटि के कवि **अमीर खुसरो** का नाम सम्मानपूर्वक लिया जाता है।

मुसलमान होते हुए भी इनका मन कृष्ण-भक्ति के गीत गाने में अधिक रमता था। सुनने में आया है कि एक बार हज़रत निजामुद्दीन औलिया के सपने में कृष्ण भगवान आए। प्रातः उठते ही औलिया ने खुसरो को श्रीकृष्ण की स्तुति में कुछ लिखने का आदेश दिया। अपने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करके उन्होंने कृष्ण की स्तुति में लिखा—

अपनी छवि बनाय के जो मैं पी के पास गई
जब छवि देखी पीहू की तो अपनी भूल गई
छाप तिलक सब छीनी रे मोसे नैनाँ मिलाय के
बात अधम कह दीन्हीं रे मोसे नैनाँ मिलाय के।
बल-बल जाऊँ मैं तोरे रंगरेजवा
अपनी-सी रंग दीन्हीं रे मोसे नैनाँ मिलाय के।

प्रो. अख्तर हुसैन निज़ामी का कहना है कि कविता में अमीर खुसरो ने प्रारंभ से ही काव्य गुरुओं की शैली पर अभ्यास किया था। अपनी ईश्वर-प्रदत्त बुद्धि की बदौलत वे उच्चकोटि के शायर बन गए। खुसरो की कविता प्रेमभावना, भक्ति, मानवता, विश्व-बंधुत्व, रसूल के प्रति श्रद्धा व पीर से आसक्ति, स्वामिभक्ति, माता-पिता और बच्चों से स्नेह तथा देश-प्रेम से परिपूर्ण है।

प्रेम की पीर में डूबी उनके गीत की कुछ पंक्तियाँ आगे प्रस्तुत की जा रही हैं, जिनमें विरहिणी (संभवतः राधा) के हृदय की टीस बड़े मर्मांतक रूप में अभिव्यंजित हुई है—

ज़े-हाल-ए मिस्कीं मकुन तग़ाफुल, दुराए नैनाँ बनाए बतियाँ,
कि ताब-ए-हिज्राँ नदारम ऐ जौ न लेहू काहे लगाए छतियाँ

शबान-ए-हिज्राँ दराज़ चूँ ज़ुल्फ़ ओ रोज़-ए वसलत चूँ उम्र-ए-कोताह
सखी पिया को जो मैं न देखूँ, तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ

यकायक अज़ दिल दो चश्म जादू ब-सद-फ़रेबम ब-बुर्द तस्कीं
किसे पड़ी है जो जा सुनावे पियारे पी को हमारी बतियाँ

इनके काव्य में गुरु-भक्ति, कृष्ण-भक्ति और इस्लामिक मान्यताओं का मणिकांचन संयोग सहज ही देखा जा सकता है, जो हिंदू-मुस्लिम एकता को बनाए रखने में रामबाण सिद्ध हुआ है।

कृष्ण-भक्त मुस्लिम कवियों में **रसखान** का नाम अग्रगण्य है। इनके विषय में प्रचलित किंवदंतियों के आधार पर यह धारणा बनती है कि रसखान एक रसिक प्राणी थे और उनका लौकिक प्रेम (इश्क मिजाजी) अलौकिक प्रेम (इश्क हकीकी) में परिवर्तित हो गया। प्रेम उनके जीवन और काव्य का मूलाधार है। उनकी स्वीकारोक्ति है—

आनंद अनुभव होत नहीं, बिना प्रेम जग जान।
के वह विषयानंद कै, ब्रह्मानंद बखान॥

रसखान वस्तुतः रसखान ही थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनके विषय में लिखा है, 'प्रेम के ऐसे सुंदर उद्‌गार उनके सवैयों में निकले कि जन-साधारण प्रेम या श्रृंगार संबंधी कवित्त सवैयों को ही रसखान कहने लगे—'जे कोई रसखान सुनाओ'। रसखान का मन जितना किशोरलीला में रमा है, उतना बाललीला में नहीं। हाँ, दानलीला में भी रसखान का मन खूब रमा है। रास और चीरहरण-लीला को उन्होंने चलता-सा बना दिया है। बाँसुरी के चमत्कार और कुब्जा पर इनकी पैनी दृष्टि पड़ी है। ब्रजभूमि संबंधी पद काफी सरस बन पड़े हैं।'

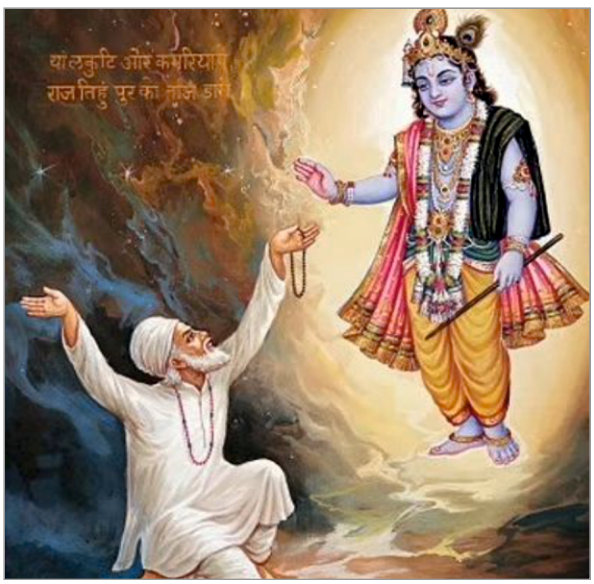

रसखान कृष्ण-प्रेम को ही जीवन का सर्वस्व मानते हैं। इस तथ्य का उद्‌घोष करते हुए उन्होंने लिखा है—

ऐसे ही भये तौ कहा दीख रसखान जु पै।
चित्त दै न कीन्हीं प्रीत पीत पटवारे सों॥

अष्टछाप के कृष्ण-भक्त के कवियों की भाँति, रसखान ने सखा-भाव और प्रेमाभक्ति का अद्‌भुत चित्रण किया है। वे अपने प्रियतम कृष्ण के दर्शन पाने के लिए निरंतर छटपटाते रहते हैं। मुँहजोर तुरंग की भाँति उनकी आँखों को पिय-प्यारे के निहारे बिना चैन नहीं पड़ता। वे अपने प्रियतम की रूपमाधुरी का पान करने के लिए मधुमक्खियों की तरह लालायित रहती हैं। रसखान ने कृष्ण के सभी क्रियाकलापों को अपने काव्य में सँजोया है। भगवान कृष्ण के बालरूप की छवि भी उनके अंतस् में खूब गई है। उनका धूलि-धूसरित सलोना साँवरा रूप, पाँव में बजती पैंजनी और उनके हाथ से माखन-रोटी छीनकर कव्वे का उड़ जाना, दृश्य बिंब का उत्कृष्ट उदाहरण है—

धुरि भरे अति सोहत स्याम जू, तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत खात फिरैं अंगना, पग पैंजनी बाजति, पीरी कछोटी॥
वा छवि को रसखान बिलोकत, वारत काम कलानिधि कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी, हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी॥

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि अपने प्रिय से संबंध रखने वाली हर चीज प्रेमी को प्रिय लगती है। इसे साहित्य में संबंध-भावना कहा जाता है। इसी भावना के वशीभूत होकर रसखान कृष्ण से संबद्ध हर वस्तु से अपना सान्निध्य स्थापित करना चाहते हैं—

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो धर्यो कर छत्र पुरंदर कारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदीकूल कदंब की डारन॥

प्रेम-पाश में अमोघ शक्ति है। प्रेम के बिना सब अकारथ है। पंडितों के वेदशास्त्र और मौलवियों की कुरान यदि प्रेमतत्व से छूँछी है तो उसका कोई मूल्य नहीं, ये सब धर्म-ग्रंथ थोथे हैं। रसखान प्रेम को ही जीवन या सर्वस्व मानते हैं। धर्म-ग्रंथों के गहन अध्ययन से परमात्मा नहीं मिलते। उसे प्राप्त करने के लिए विविध प्रकार के अनुष्ठान भी निरर्थक हैं।

रसखान कहते हैं कि जिस ब्रह्म को मैंने वेद-पुराण आदि धर्मशास्त्रों में ढूँढ़ा, जिसके रूप-गुण का ज्ञान पाने के लिए दर-दर अलख जगाई, अनेक स्त्री-पुरुषों से उसका पता-ठिकाना पूछते-पूछते मैं हार गया। अंततः देखा, तो वह वृंदावन की कुंजकुटीर में राधा के पाँव दबा रहा था।

निष्कर्षतः, कहा जा सकता है कि रसखान जैसे भगवान के सच्चे भक्त विरले ही होंगे, जिन्होंने प्रभु-प्रेम में सराबोर होकर ऐसे अप्रतिम काव्य की रचना की हो। धन्य हैं रसखान और साथ ही धन्य हो गए उनके सरस काव्य का रसपान करने वाले।

कृष्ण-भक्ति काव्य में संप्रदायेतर कवियों—मीरा, रहीम, रसखान आदि ने अपने भावौदात्य तथा कला-उत्कर्ष से उक्त साहित्य को अभीष्ट रूप में समृद्ध किया है। प्रेम, आनंद और उल्लास से परिपूर्ण इस काव्य की अभिवृद्धि में **रहीम** सरीखे कृष्णभक्त कवि के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। रामस्वरूप चतुर्वेदी का कथन है कि भक्तिकाल का वैविध्य कई दृष्टियों से रहीम के कृतित्व से पूरा होता है। मुसलमान, और उस पर भी तत्कालीन शासन का अंग होकर ये हिंदू देवताओं का स्तुति गान करते हैं। शाही दरबार के मान्य सदस्य

होते हुए सूफी संतों-भक्तों की कोटि में अपने को जोड़ते हैं। जनजीवन के झंडाबरदार और कृष्णभक्ति में अनुरक्त इस कवि को निश्चय ही जनजागरण का अग्रदूत कहा जा सकता है।

रहीम मुस्लिम होते हुए कृष्ण-भक्त थे। उन्होंने कृष्णभक्ति में लीन होकर अनेक पद्यों की रचना की। रहीम ने अपने काव्य में रामायण, महाभारत, पुराण और गीता जैसे धार्मिक ग्रंथों के कथानकों को उचित स्थान दिया तथा भारतीय संस्कृति के समन्वित रूप की छटा प्रस्तुत की। रहीम उस मध्ययुगीन चेतना के रचनाकार थे, जब भक्ति जातिवाद, सांप्रदायिकता से उठकर उदात्त भावभूमि पर प्रतिष्ठापित हो रही थी।

रहीम वैष्णव संप्रदाय द्वारा प्रतिपादित भक्तिभाव से परिप्लावित हैं। इनकी भक्तिभावना में श्रीकृष्ण के प्रति वही आत्मीयता परिलक्षित होती है, जो पुष्टिमार्गी भक्त कवियों में परिव्याप्त है। रहीम की दृष्टि में प्रेम का भाव बड़ा विचित्र है। यह एक ऐसी अद्भुत आग है कि एक बार जल गई तो फिर बुझती नहीं, बल्कि बुझ-बुझकर सुलगती रहती है—

जे सुलगे ते बुझ गए, बुझे ते सुलगे नाहिं।
रहिमन दाहे प्रेम के, बुझ-बुझ के सुलगाहिं॥

रहीम कृष्ण-प्रेम से बढ़कर किसी को नहीं मानते। स्वर्ग-अपवर्ग एवं कल्पवृक्ष की छाया का भी उसके समक्ष कोई महत्व नहीं। यदि कृष्ण भगवान का सान्निध्य मिल जाए तो आक-ढाक जैसे पेड़-पौधे भी उसे नंदनवन जैसे सुहावने लगेंगे। उनकी स्वीकारोक्ति है—

कहा करौं बैकुंठ ले, कल्पवृक्ष की छाँह।
रहिमन ढाक सुहावने, जो गल प्रीतम बाँह॥

रहीम केवल कृष्ण-प्रेमी ही नहीं थे, वे भगवान के भक्तों तथा उनके द्वारा लिखे गए भक्तिपरक ग्रंथों का भी आदर करते थे। तुलसीकृत रामचरितमानस के प्रतिपाद्य को रहीम ने हिंदू और मुसलमानों के लिए समान रूप से उपयोगी मानते हुए लिखा है—

रामचरितमानस बिमल, संतन जीवन प्रान।
हिंदुआन को वेद सम, जवनहिं प्रगट कुरान॥

अकबर को भगवान कृष्ण से प्रेम था, खासकर उनकी पत्नी ताज बीबी कृष्ण-भक्ति में लीन रहती थी। ताज बीबी ने कृष्ण की भक्ति में कविताएँ और छंद लिखे थे, जो आज भी पुष्टिमार्गीय मंदिरों में गाए जाते हैं। इतिहास साक्षी है कि अकबर मीरा की कृष्ण-भक्ति से प्रभावित होकर उनसे मिले थे। कृष्णमय परिवेश से अभिभूत होकर वे भी कृष्ण से प्रेम करने लगे थे। उनके अंतःकरण से कृष्ण-प्रेम की ऐसी भावधारा उमगी, जिसका आस्वादन करके भक्तजन आनंदाप्लित हो उठे। कविता के बोल हैं—

शाह अकबर एक समै चले कान्ह विनोद विलोकन बालहिं।
आहट ते अबला निरख्यो चकि चौंकि चली करि आतुर चालहिं।

त्यों बल वेनी सुधारिधरी सु भई छबि यो ललना अरु लालहिं।
चपक चारु कमान चढ़ावत काम ज्यों हाथ लिए अहि बालहिं।

आलम शेख की गणना कृष्ण-प्रेमी प्रमुख मुस्लिम कवियों में की जाती है। आलम शेख का वास्तविक नाम लालमणि त्रिपाठी था। ये उच्चकुलोद्भूत ब्राह्मण थे। शेख नाम की एक तर्कप्रवण सुंदरी के प्रेम-जाल में फँस गए। उस रंगरेजिन से विवाह रचाने के लिए इन्हें

कलमा पढ़कर मुसलमान बनना पड़ा। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखा है कि ये प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। इसी से इनकी रचनाओं में हृदयतत्व की प्रधानता है। 'प्रेम की पीर' या 'इश्क का दर्द' इनके एक-एक वाक्य में भरा पाया जाता है। ...यह तन्मयता सच्ची उमंग में ही संभव है। प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना 'रसखान' और 'घनानंद' की कोटि में होनी चाहिए।

अन्य कृष्णभक्त कवियों की परिपाटी के अनुसार आलम ने भगवान कृष्ण के विविध रूपों का मनोहारी वर्णन किया है। बलि को छलने वाले बालकृष्ण पलने में झूल रहे हैं, जिसे देखकर यशोदा मैया का रोम-रोम पुलकित है। वह अपने पति नंद से आनंद को साझा करते हुए कहती हैं कि देखो तो, मेरा ललना चंद्रकला की भाँति कैसे बढ़ रहा है! वह प्रतिदिन पल-पल नित्य नई-नई छवि धारण कर रहा है—

पालने खेलत नंद-ललन छलन बलि,
गोद लै लै ललना करति मोद गान है।
'आलम' सुकवि पल-पल मैया पावै सुख,
पोषति पीयूष सुकरत पय पान है।
नंद सों कहति नंदरानी हो महर सुत,
चंद की सी कलनी बढ़तु मेरे जान है।
आइ देखि आनंद सों प्यारे कान्ह आनन में,
आन दिन आन घरी आन छवि आन है।

प्रेम का यह दस्तूर है कि अपने प्रेमी से संबद्ध हर वस्तु प्रिय लगती है। जहाँ वह घूमा है, जहाँ उसने केलिविलास किया है, उसने जो-जो प्रिय संवाद किया है, वह आलम को रह-रहकर याद आता है। कृष्ण की छवि सदैव उसकी आँखों में समाई रहती है, वह कृष्ण की स्मृतियों को समर्पित है—

जा थल कीन्हें बिहार अनेकन, ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करैं
जा रसना सों करी बहुत बातन, ता रसना सों चरित गुन्यो करैं
आलम जौन से कुंजन में करी केलि, तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं
नैनन में जो सदा रहते, तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं।

'आलम केलि', 'स्याम स्नेही' और 'माधवानल-काम-कंदला' इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। 'स्याम स्नेही' में रुक्मिणी विवाह की कथा है और इसकी रचना दोहा-चौपाई शैली में हुई है।

आलम की प्रशस्ति में कुलपति मिश्र ने अपनी पुस्तक 'युक्तितरंगिणी' में यह दोहा लिखा है—

नवरसमय भूरति सदा, जिन बरने नंदलाल।
आलम आलम बस कियो, दै निज कविता जाल॥

सन् 1660 में अवध जनपद के एक गाँव बेलग्राम में जन्मे सूफी संत कवि **शाह बरकत उल्लाह** पर कृष्ण-भक्ति काव्य-धारा का गहरा प्रभाव था। हिंदू-मुस्लिम सौहार्द की दीपशिखा प्रज्वलित करने वाले और प्रेम-रस की अमृतमयी वर्षा करने वाले इस संत कवि ने कभी किसी बादशाह के आगे हाथ नहीं पसारे। कभी किसी की स्तुति-वंदना नहीं की। वह अपने में ही मस्त, प्रेमी-परमात्मा के चिंतन में विभोर, जनमानस में प्रेम का दिव्य-संदेश बिखेरते रहे। उनके लिए हिंदू-तुर्क, मंदिर-मस्जिद सभी समान थे, क्योंकि दोनों ही में उसे पार ब्रह्म परमात्मा (प्रेमी) की छवि छाज रही है—

पेमी हिंदू-तुरुक में, हर रंग रहो समाय।
देवल और मसीत में, दीप एक ही भाय॥

कृष्णप्रेम में पगे अष्टछाप कवियों की भाँति उन्होंने भी राधा-कृष्ण के मिलन-विरह, गोप-गोपियों के विशुद्ध आध्यात्मिक प्रेम तथा उद्धव-गोपियों के सटीक संवाद का मार्मिक चित्रण किया है। उद्धव गोपियों को बार-बार समझाता है कि योग-अभ्यास से ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। अनेक ऋषि-मुनियों ने योग-साधना को ही मुक्ति का मार्ग बतलाया है। अतः तुम कृष्ण से अपना मन हटाकर निर्गुण भक्ति में प्रवृत्त हो जाओ। उद्धव की हठधर्मिता से अकुलाकर गोपियाँ उसे इस प्रकार फटकारती हैं—

ऊधौ तुम यह है मरम न जानों
हम में स्याम, स्याम मध हम हैं
तुम जनि अनत बखानों
मसि में अंक, अंक मसि महियां
जल में लहर, लहर जल माहीं
कहं विधि विरहा ठानों

सूफी संत कवि शाह बरकत उल्लाह के कृष्ण-प्रेम को रेखांकित करते हुए प्रसिद्ध समीक्षक एवं साहित्यकार श्री कन्हैयालाल चंचरीक ने लिखा है, 'ब्रज जनपद के एक ओर गंगा और दूसरी ओर जमुना के बीच बसे 'मारहरा' में इस सूफी-संत-साधक ने 17वीं सदी में जो अनंत और दिव्य प्रेम की रसधारा प्रवाहित की, हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की जिस भावना को परिपुष्ट किया वह आज भी उतनी ही प्रेरणाप्रद और लोकोपकारक है।'

कृष्णभक्त मुसलमान कवियों की साहित्य-साधना से अभिभूत होकर भारतेंदु हरिश्चंद्र ने लिखा है—

इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिक हिंदू वारिये।

व्यास पूर्णिमा

हमारे जीवन का व्यास और मर्म की प्यास

आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा अर्थात व्यास पूर्णिमा—सनातन संस्कृति का वह पर्व है, जब नयनों में कृतज्ञता के अश्रु और श्रद्धा भरे हाथों में एक नारियल, मन की तरह खिले हुए ताजा पुष्पों की माला, कुछ नैवेद्य के साथ हृदय में अगाध विश्वास लिये हमारे कदम स्वयंमेव उस द्वार पर मुड़ जाते हैं, जिनसे जीवन का अर्थ जाना। पीयूषपाणि गुरु से आशीष लेने का यही वो दिन है, जब अमृत के पुत्र हम अपनी अमरता के स्रोत को मानने और जानने का उत्सव मनाते हैं। अद्भुत उल्लास और उत्साह से भरे-भरे अपने-अपने गुरु अर्थात व्यास के दर्शन को जाते हैं।

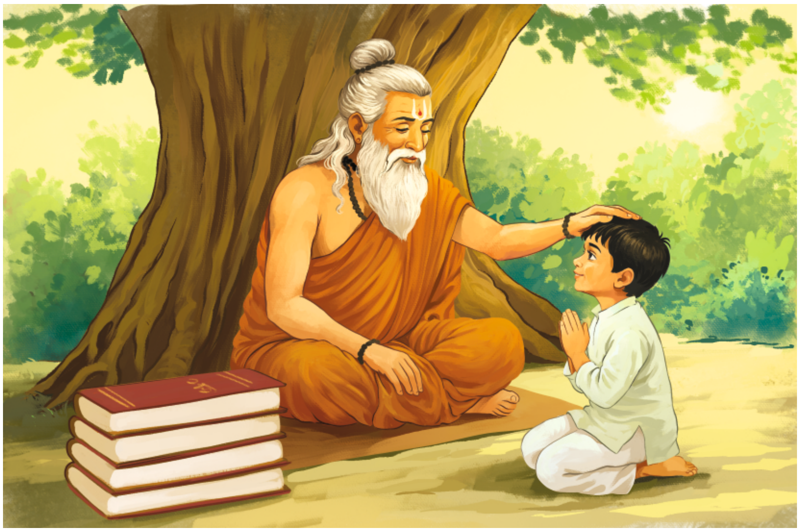

डॉ. राजरानी शर्मा

- मध्य प्रदेश में 36 वर्षों तक प्राध्यापिकीय सेवा देने के बाद लेखन कार्य में सक्रिय।
- प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में कविता, समीक्षा एवं ललित निबंधों का प्रकाशन।
- आकाशवाणी व दूरदर्शन से साक्षात्कार एवं वार्ताएँ प्रसारित।
- अनेक साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक संस्थाओं में सक्रिय भागीदारी।
- दो काव्य-संग्रह प्रकाशित।
- न्यास से प्रकाशित पुस्तक 'आखर-आखर मोरपंख' को मध्य प्रदेश साहित्य अकादमी का कुबेरनाथ राय सम्मान प्राप्त।

संपर्क : मोबाइल– 9425339771

ईमेल– rajranis@gmail.com

हमारी गुरु पूर्णिमा ही व्यास पूर्णिमा भी है। ये इस तथ्य की पुष्टि है कि हमारे अस्तित्व के व्यास में केवल और केवल गुरु ही हैं। उपनिषद् कहता है, 'मातृ देवौ भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव।' ये तीन ही हमारे आलोक के स्रोत हैं। माता-पिता हमें 'प्रेयस' अर्थात लौकिक जीवन से परिचय कराते हैं, वहीं गुरु हमें हमारे जीवन का मूल अर्थ हमारी श्रद्धा, आस्था, विश्वास, क्षमता के साथ-साथ हमारी लौकिक-अलौकिक शक्तियों से परिचय कराते हैं और फिर हमें 'श्रेयस्' का मार्ग दिखाकर 'मनुर्भव' का अमृत पिलाते हैं। आश्वस्ति का ये अमृत हमें व्यक्ति रूप गुरु में सदाशिव के दर्शन कराने की क्षमता प्रदान करता है। गुरु-शिष्य परंपरा को भारत की शिरोमणि परंपरा और भारत को भारत बना देने वाली परंपरा का उत्सव मनाता हर वर्ग का व्यक्ति कितनी सहजता से अपने भीतर विराजमान ईश्वर के दर्शन कर लेता है! तब आह्लादित कबीर कह उठते हैं, "बलिहारी या गुरु की जिन गोविंद दियो बताय।" वस्तुतः, इसीलिए ये उत्सव आलोक पर्व है, क्योंकि बाह्य गुरु ही हमें अंतस में बैठे जगद्गुरु का परिचय देते हैं, मन की आँखों से दर्शन कराते हैं।

व्यास पूर्णिमा कृष्ण द्वैपायन व्यास के स्मरण का आलोक पर्व है, उनके प्रादुर्भाव का पावन दिवस है। महर्षि व्यास हमारी संपूर्ण ज्ञान परंपरा के मूल उत्स हैं, जिन्होंने अपौरुषेय वेदों को वाणी दी, पुराणों और ब्रह्मसूत्र की रचना कर मानवता को ज्ञान की संजीवनी प्रदान की। महापुराण महाभारत की रचना करके विश्व को चमत्कृत करते हुए कहा, "यत्र भारते–तत्र भारते"–जो विश्व में है वह सब इस सवा लाख लोकों वाले ग्रंथ में है। महाभारत की महानता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसको स्वयं गणेश जी ने लिपिबद्ध किया।

हमारी संस्कृति का मूल स्रोत और विश्व में भारतीय संस्कृति को पहचान दिलाने वाली 'श्रीमद्‌गवद्‌गीता' इसी महाभारत पुराण का एक भाग है, जो ब्रह्मविद्या और उपनिषदों का सार कही जाती है। 'श्रीविष्णुसहस्रनाम' जैसा अद्‌भुत स्तोत्र भी महाभारत का ही भाग है। हमारी अस्मिता, अस्तित्व और आस्था की पावन परिधि हैं—आदिगुरु व्यास। इसीलिए व्यास पूर्णिमा गुरु के जन्म का उत्सव ही नहीं, 'गुरु तत्व' की कृतज्ञता का उत्सव है। जीवन को परिवर्तित ही नहीं, परिष्कृत और पावन कर देने वाला गुरु तत्व ही हमारी आर्ष चेतना के मूल में है। सनातन संस्कृति में गुरु से आपकी पहचान निश्चित होती है। हम किस गुरु के शिष्य हैं और हमारी गुरु परंपरा क्या है ये हमारे परिचय के सूत्र हैं। गुरु-शिष्य परंपरा हमारी सनातनी दृष्टि का पर्याय है, जो ज्ञान की पावन धारा को श्रद्धा और विश्वास के साथ 'पर' से 'अपर' को प्रदान करती चलती है। ज्ञान की और उजास की इसी पावन श्रृंखलाओं की अविच्छिन्न कड़ी हो जाने को आकुल-व्याकुल सनातनी मानस गुरु की शरण में ज्ञान के साथ-साथ दिव्यातिदिव्य शांति, संतोष, वात्सल्य और आश्वासन पाता है। इसीलिए गुरु पूर्णिमा पर गुरु के चरणोदक या चरणामृत लेने का विधान है, क्योंकि हमारे यहाँ चरण ही आचरण के प्रतीक हैं और आचार्य वही है, जिसके आचरण अनुकरणीय हों, जो हमें अंतस के प्रकाश से पहचान करा दे। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का उद्‌घोष करने वाली हमारी परंपरा को प्रकाश के पथ पर जो गुरु उँगली थामकर ले जाता है उसे हम मन, वचन और कर्म से श्रद्धावनत होकर चरण-वंदन करते हैं। हमारी गुरु-शिष्य परंपरा ही प्रणिपात अर्थात विनम्रता का अमृत पिलाकर हमें सत्पात्र बनाती है। गुरु पूर्णिमा इस बात की सहर्ष स्वीकृति है कि व्यास का प्रदेय ही हमारे जीवन को अमरता का पाठ पढ़ाता है। हमारी सनातन संस्कृति के उजले और अमरत्व प्रदान करने वाले सभी सूत्र महर्षि व्यास की दिव्य चेतना और परम पावन लेखनी का महाप्रसाद है।

गुरु है तो प्रकाश है—प्रकाश है तो पूर्णिमा है, इसलिए कृष्ण द्वैपायन व्यास, व्यास पूर्णिमा को ही अवतरित होते हैं। जब ज्ञान का, अमरता का अमृत छलकने लगे तो गुरु पूर्णिमा होती है और ये संयोग मात्र नहीं कि गुरु, पूर्णिमा को ही प्रकट होते हैं, फिर चाहे बुद्ध हों, नानक हों, कबीर हों, रैदास हों, सब पूर्णिमा को ही प्रकट हुए। गुरु पूर्णिमा के दिन ही सदाशिव ने गुरु रूप में प्रकट होकर सप्तऋषियों को योग का ज्ञान प्रदान किया। गुरु माँ है। जिस प्रकार माँ हमारे अस्तित्व को संसार में लाती हैं, उसी प्रकार गुरु हमें जीवन-मंत्र देकर अज्ञान के अंधकार को दूर करके हमारे मार्ग को प्रशस्त करते हैं।

गुरु-शिष्य परंपरा की दिव्य झाँकी हमारी चेतना को प्रेरित करती है। हमारे शास्त्र कहते हैं, राम को राम बनाने वाले गुरु वसिष्ठ हैं। मानस में कहा गया है, 'जाकी सहज स्वाँस श्रुति चारी। सो हरि पढ़े यह कौतुक भारी'। राम गुरु-गृह जाते हैं तो श्री कृष्ण संदीपनि गुरु के आश्रम में रहकर समस्त विद्या प्राप्त करते हैं और स्वयं जगद्‌गुरु कहलाते है—'कृष्णं वंदे जगद्‌गुरुं'। हनुमान स्वयं सूर्य से विद्या प्राप्त करते हैं और तीनों लोकों के साथ चारों युगों में अपना पावन अस्तित्व प्रकाशित करते हैं। परशुराम जी के तीन बड़े शिष्य द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह और कर्ण रहे तो गुरु द्रोण के शिष्य पाँचों पांडव और अश्वत्थामा रहे। समर्थ गुरु रामदास के शिष्य शिवाजी महाराज। रामकृष्ण परमहंस के शिष्य विवेकानंद से लेकर असंख्य गुरु-शिष्य की यह परंपरा अत्यंत लंबी है और भारत को भारत बनाने में इसका जादुई योगदान है। गुरु-शिष्य परंपरा की पहचान रहे हमारे गुरुकुल इस बात के प्रमाण हैं कि हमारे वेद 'श्रुति' कहलाते हैं, अर्थात सुनकर जाने गए। यही तथ्य गुरु-शिष्य परंपरा का उत्कृष्ट उदाहरण है। हमारे वेदों के छह अंगों में से एक है शिक्षा अर्थात 'उच्चारण विज्ञान'। यदि वेदों का लय और अनुतान के आधार पर ज्ञान कराया जाए तो समस्त वैदिक वाङ्मय का महत्व चला जाएगा। इसलिए 'शिक्षा' के अंतर्गत वेद मंत्रों के उच्चारण की भाषावैज्ञानिक रीति गुरु द्वारा ही प्रदान की जाती थी। गुरु-शिष्य परंपरा में ज्ञान को आत्मीयता की ऊर्जा भी प्रदान करना हमारी परंपरा रही है।

सनातन परंपरा में गुरु पूर्णिमा गुरु तत्व और गुरु-शिष्य परंपरा को आत्मसात करने का उत्सव है। गुरु-शिष्य परंपरा सनातन धर्म की सभी धाराओं में मिलती है। गुरु-शिष्य की यह परंपरा ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में हो सकती है, जैसे—अध्यात्म, संगीत, कला, वेदाध्ययन, आदि। हमारे देश में अनेक मठ, मंदिर, संप्रदाय और गुरुकुल हैं, जो अनेक परंपराओं का सुगंधित स्तबक है। व्यास पूर्णिमा के अवसर पर सब अपने-अपने गुरुओं का पुण्य स्मरण, दर्शन और चरण-वंदन करते हैं। समय की गति इस परंपरा को किंचित भी आँच नहीं पहुँचा सकी है, क्योंकि गुरु की वही करुणासिक्त दृष्टि है और वहीं शिष्य का श्रद्धापूरित मन है।

गुरु को ब्रह्मा, विष्णु और महेश के साथ साक्षात परब्रह्म की उपमा ही नहीं दी, वरन माना और जाना भी गया है। कहा गया है—

कृष्ण द्वैपायनव्यासं विद्धि नारायणप्रभुम्।
को अन्य पुण्डरीकांक्षान्महाभारत कृद् भवेत्॥

हमारे आर्ष साहित्य में गुरु की कृतज्ञता के स्वर गूँज रहे हैं। अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं, जिनमें हमें गुरु की महानता और प्रदाय के विषय में ज्ञान होता है।

स्कंदपुराण में शिव-पार्वती के संवाद प्रसंग में स्वयं भगवान शिव ने देवी पार्वती जी से गुरु का महत्व, गुरु का स्थान और गुरु के प्रति समर्पण और आध्यात्मिक मार्ग में मोक्ष का, विस्तार से वर्णन किया है। कठोपनिषद और छांदोग्योपनिषद में गुरु-शिष्य के मध्य ज्ञान के आदान-प्रदान और मोक्ष के उपाय आदि की विस्तृत चर्चा है। भागवत पुराण में दत्तात्रेय के 24 गुरु और उनसे शिक्षा लेने की महत्वपूर्ण कथा है। आरुणि, उद्दालक श्वेतकेतु, नचिकेता हों या अष्टावक्र जैसे ब्रह्मज्ञानी—हमारे शास्त्रों के उद्गाता, व्याख्याता और शास्ता गुरु ही रहे हैं। शताधिक गुरुओं के नामोल्लेख में आदि शंकराचार्य से लेकर वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, गुरु गोरखनाथ से लेकर आदियोगी, अवधूत परंपरा, दार्शनिक, आध्यात्मिक, कला, साहित्य, वास्तु और संगीत के गुरु, जिनकी शिष्य परंपरा ज्ञान की गंगा को उज्ज्वल, प्रवाही और लोकमंगलकारी बनाए रखती है। जीवन को जीने योग्य बनाने के अमोघ मंत्र देती गुरु परंपरा का अमर आख्यान है आदिगुरु शंकर रचित 'गुरु पादुकाअष्टकम्'।

'गुरु पादुका स्तोत्रम्' (गुरु पादुकाष्टकम्) आदि शंकराचार्य द्वारा रचित एक अत्यंत प्रभावशाली स्तोत्र है। यह गुरु के चरणों (पादुकाओं) की महिमा का गान करता है, जो भक्त को संसार रूपी सागर से पार उतारने वाली नौका के समान हैं।

अनंतसंसार समुद्रतारा-नौकायिताभ्यां गुरुभक्तिदाभ्याम्।
वैराग्यसाम्राज्य पूजनदाभ्याम् नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम्॥१॥

जो अनंत संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिए नौका के समान हैं, जो गुरु के प्रति भक्ति प्रदान करती हैं और वैराग्य का साम्राज्य देती हैं, उन श्रीगुरु की पादुकाओं को मेरा बार-बार प्रणाम है।

कवित्व वाराशिनिशाकराभ्याम्
दौर्भाग्यदावांबुदमालिकाभ्यम्।
दूरीकृतानम्र विपत्तितिभ्याम् नमो नमः
श्रीगुरुपादुकाभ्याम्॥२॥

जो कवित्व (ज्ञान) रूपी समुद्र के लिए पूर्ण चंद्रमा के समान हैं, जो दुर्भाग्य रूपी दावानल को बुझाने के लिए जलती हुई बादलों की माला के समान हैं और जो भक्तों की विपत्तियों को दूर करती हैं, उन श्रीगुरु पादुकाओं को नमस्कार है।

यह कृतज्ञता मंत्र हैं और मनोवैज्ञानिक रूप से प्रामाणिक इसलिए कि जिस संकल्प-शक्ति से सृजन की, तपस्या की, या ज्ञान की नैया पार होती है वह संकल्प-शक्ति गुरु के प्रति श्रद्धा से प्राप्त होती विनय से पात्रता और पात्रता से धन, धन से धर्म और धर्म (व्यापक अर्थों में) से सर्वमंगल होते हैं। इसीलिए गुरु गीता में भगवान शिव कहते हैं—

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥

रामचरितमानस में गोस्वामी जी कहते हैं, 'गुरु पद नख गन मणिगन जोती, सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती'। गुरु के चरणों की रज ही वह अमृतमय चूर्ण है, जो संसार के समस्त पाप तापों को हरने की क्षमता रखता है।

गुरु की कृपा से व्यक्ति में प्रच्छन्न शक्तियाँ और संभावनाएँ प्रकट होती हैं एवं गुरु की प्रेरणा से न केवल लौकिक, वरन पारलौकिक सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। व्यक्ति का कायाकल्प होता है, क्योंकि गुरु ज्ञान के साथ वात्सल्य का अमृत और अपने जीवन के समस्त जप तप का फल सहर्ष अपने विनीत शिष्य को प्रदान कर देते हैं। हमारी परंपरा में इसके शताधिक उदाहरण भरे पड़े हैं, जब गुरु ने शिष्य का उद्धार किया, जीवन बनाया और प्रकाश के मार्ग पर स्वयं ले गए। गुरु हमारी सनातन संस्कृति के केंद्र में हैं और हमारा जीवन गुरु के आस-पास ही घूमता है। गुरु की कृपा बिंदु से सिंधु बनाती है। गुरु अजर अमर अविनाशी तत्व है। गुरु तत्व का महत्व भगवत तत्व से भी अधिक बताया गया है।

ऐसे ही अपने-अपने सब गुरुजन को व्यास पूर्णिमा के माध्यम से नमन करके हम अपनी प्रणति कृष्ण द्वैपायन व्यास के चरणों में निवेदित करते हुए प्रभु से विनती करते हैं, हम इसी व्यास के घेरे में रहें, आश्वस्त, निर्भीक, वरदहस्तों और कृपादृष्टि से गुरु चरणामृत, सान्निध्य के अधिकारी बने रहें।

मानस की काली मावस को
गुरु तुम गुरु पूनो से धोना!

इन थैलों में सभ्यता की स्मृति है

कबीर लिखते हैं—'रहना नहीं देस बिराना है/ यह संसार कागद की पुड़िया बूँद पड़े घुल जाना है।'

क्या कबीर कागज को कुछ संदेह से देखते हैं? वे कागज को एक बेगानी-भंगुर दुनिया का प्रतीक क्यों बनाते हैं? या यह कागज उन्हें एक आध्यात्मिक दुनिया की ओर प्रयाण करने से पहले छोड़ी जाने वाली चीज लगता है? यह सच है कि कागज जल जाता है, गल जाता है, पुराना पड़ जाता है, फट जाता है। वह अस्थायी किस्म का सच लगता है। लेकिन क्या यह पूरा सच है? दुनिया में बहुत सारी चीजें खत्म हो गईं, कागज बचा हुआ है। उस पर छपने वाली किताबें बची हुई हैं। उससे बनने वाले थैले बचे हुए हैं। कागज के बहुतेरे इस्तेमाल बचे हुए हैं।

प्रियदर्शन

जन्म : 24 जून, 1968

शिक्षा : परास्नातक, अंग्रेजी, राँची विश्वविद्यालय

कार्यक्षेत्र : न्यू मेसेज, राँची एक्सप्रेस, जनसत्ता और एनडीटीवी जैसे संस्थानों से जुड़ाव।

प्रकाशन : बीस किताबें प्रकाशित। *उपन्यास*—'ज़िंदगी लाइव'; *कहानी संग्रह*—'उसके हिस्से का जादू', 'बारिश, धुआँ और दोस्त', 'सहेलियाँ और अन्य कहानियाँ;' 'हत्यारा और अन्य कहानियाँ'; *कविता संग्रह*—'नष्ट कुछ भी नहीं होता' और 'यह जो काया की माया है'; *नाटक*—'बेटियाँ मन्नू की' और *वैचारिक लेखों के संग्रह*—'भारत की घड़ी' और 'जो हिंदुस्तान हम बना रहे हैं।'

संपर्क : मोबाइल— 9811901398

इस सबके बावजूद, कबीर कागज को जब भी देखते हैं, कुछ संदेह से ही देखते मिलते हैं। कबीर के यहाँ यह कागज दूसरे अर्थों में भी आता है—सैद्धांतिक या अव्यावहारिक या मिथ्या ज्ञान का वहन करने वाले साधन के रूप में। वे लिखते हैं—'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी'।

'कागद की लेखी और आँखन की देखी' का यह द्वैत अब हिंदी का मुहावरा हो गया है।

कागज को लेकर मुहावरे और भी हैं। कागज से जो कागजी बनता है, वह भी कई अर्थ देता है। एक अर्थ तो सीधे-सीधे फर्जी से जुड़ता है—यानी यह कागजी कंपनी है—ऐसी कंपनी, जिसका वजूद सिर्फ कागज पर है, कागजी कार्रवाई—यानी दिखावे की कार्रवाई, कागजी शेर, यानी कृत्रिम शेर।

तो कागज जितने काम का होता है, उतनी ही बात भी सुनता है। कागज शायद टूटी हुई उम्मीद का प्रतीक बन जाता है—उस सपने का, जो अक्षरों और शब्दों में ढाला तो गया, लेकिन जीवन में उतारा नहीं जा सका, उस सिद्धांत का, जिसके अनुसार व्यवहार नहीं हो सका। लेकिन सपना भी बना हुआ है, नाउम्मीदी और मायूसी भी बनी हुई है, कागज भी बना हुआ है और उसके बहुत सारे उपयोग भी बने हुए हैं।

कबीर के लेखे से यह पता चलता है कि उनके समय में भी कागद की पुड़िया होती होगी। यह पुड़िया किस काम आती होगी? क्या उन दिनों दुकानों में मसाले पुड़ियों में बेचे जाते होंगे? छोटी-छोटी कई चीजें पुड़ियों में दी जाती होंगी? क्या कबीर ऐसी ही कोई पुड़िया जेब में रखकर चले होंगे और बारिश की बूँदों ने उसे गला दिया होगा? क्या ऐसे गले हुए पुड़िये से पैदा हुए वीतराग ने उन्हें लिखने की प्रेरणा दी होगी कि 'रहना नहीं देस बिराना है'?

कागज की पुड़ियों से कागज के आधुनिक थैलों तक की यात्रा, दरअसल एक सभ्यतागत यात्रा भी है। इनसान ने अपने

अनगढ़ हाथों से किसी सामान को सँजोने के लिए कागज को मोड़-तोड़कर एक आकार दिया होगा, इस लायक बनाया होगा कि उससे सामान गिरे नहीं। अब पुड़िया नहीं, 'पाउच' चलते हैं। पाउच के लिए आधुनिक मशीनें हैं। हर चीज डिब्बाबंद है, पॉलिथीन पैक्ड है, पाउच में भी सुलभ है। पुड़िया और पाउच के बीच भी एक सभ्यतागत अंतर लगता है—शायद कुछ वैसा ही, जैसा धोती-कुर्ता और जींस टी-शर्ट के बीच लगता है। मगर यह अंतर लगता ही है, जरूरी नहीं कि होता भी हो। आधुनिकताएँ कई बार पुरातन वेशों में प्रगट होती हैं

और प्राचीनताएँ कई बार खुद को आधुनिक पोशाकों में छुपाए रखती हैं। तो पोशाकों से या पुड़ियों और पाउच से जो इनसानों को और उनकी प्रवृत्ति को पहचानने पर विश्वास करते हैं, शायद वह इनसानी मिजाज को ठीक से नहीं समझते। वैसे, पुड़िया जिस तरह कागज की होती है, पाउच भी कागज का होता है, लेकिन उसमें कई बार मिलावट होती है—उसमें प्लास्टिक भी चला आता है।

वैसे, अचानक मुझे याद आया, पुड़ियों के पाउच में बदलने या कागज के थैलों के बनने से पहले एक चीज और होती थी। इन्हें हम 'ठोंगा' कहते थे। बल्कि ठोंगा भी शायद पुड़ियों जितना ही पुराना हो। आखिर, ज्यादा मात्रा में सामान लेने-ले जाने के लिए भी साधन तो चाहिए ही रहे होंगे!

मुझे अपने बचपन की दुकानें याद आती हैं, जहाँ छोटे-बड़े आकार के सैकड़ों ठोंगे रखे रहते थे। 50 ग्राम वजन तक के मसाले या छोटे सामान सहेजने वाले छोटे ठोंगों से लेकर कम-से-कम पाँच किलो तक चावल-चीनी अटा लेने वाले बड़े ठोंगों तक। अकसर ये ठोंगे बहुत घरेलू किस्म के उद्योग का नतीजा होते थे—यानी कुटीर उद्योग से भी नीचे का। पुराने अखबारों को काट-छाँटकर सुघड़ ढंग से बनाये गए ये ठोंगे दुकानदारी और खरीददारी की लगभग रीढ़ थे। मेरी तरह के लोगों के लिए इनका एक और इस्तेमाल था। कई बार इन ठोंगों पर छपी दिलचस्प खबरें मिल जाती थीं। उन दिनों पढ़ाई इकलौता व्यसन होती थी। तो ठोंगे पर जो भी छपा होता, वह मैं पढ़ लिया करता। इसके बाद ठोंगे से छोटी-छोटी नावें भी बनाई जातीं। हालाँकि, नाव बनाने के विकल्प और भी थे। अखबारों के पन्नों से भी नावें बनतीं और कॉपियों के पुराने पन्नों से भी। कबीर ने भले जीवन को कागद की वह पुड़िया बताया हो, जो गल जाने को मजबूर है, लेकिन ये ठोंगे किसी जादुई ढंग से बचे रहते थे—रसोईघरों के ताखों में, छोटी अलमारियों में। जब वहाँ उनका उपयोग खत्म हो जाता तो वे फेंक दिए जाते, जिन्हें मेरी तरह का कोई बच्चा उठाकर पढ़ने की कोशिश करता कि इनमें लिखा क्या है।

दिल्ली आने के बाद पता चला कि ठोंगे को लिफाफा कहते हैं। लिफाफा मेरी शब्द-स्मृति में अलग तरह से बसा शब्द है। लिफाफे में चिट्ठियाँ डाली जाती हैं, जिन्हें डाक से भेजा जाता है। पहले लगता था कि बस डाकघर में ही लिफाफे मिलते हैं, लेकिन बाद में समझ में आया कि लिफाफा कोई भी बना और बेच सकता है। हाँ, उसे कहीं भेजे जाने लायक बनाने के लिए उस पर टिकट चिपकाना पड़ता है।

दरअसल, यह प्लास्टिक और पॉलिथीन का हमला था, जिसने ठोंगा कहें या लिफाफा—उसे एक दौर में पीछे धकेल दिया। दुकानों में प्लास्टिक की पन्नियाँ दुकानदारों और ग्राहकों, दोनों को रास आने लगीं। ये पॉलिथीन कागज के मुकाबले सस्ते, टिकाऊ और पारदर्शी होते, इनकी चमक इन्हें कुछ साफ-सुथरेपन का बोध देती, ये मुचड़ते नहीं और दूसरी-तीसरी बार भी काम में आ जाते। ये ठोंगों का ही नहीं, दूसरे बर्तनों का भी विकल्प बनने लगे। इन पंक्तियों के लेखक को याद है कि बचपन में दूध लाने के लिए अलग बर्तन हुआ करता

था। जब पहली बार उसने पॉलिथीन वाला दूध का पैकेट देखा तो हैरान रह गया। तो इसके बाद हर चीज के किसी वैकल्पिक उपयोग के अभ्यासी भारतीय घरों के ताखों में ये पॉलिथीन जमा होने लगे, ठोंगा पीछे छूट गया। मगर जब पता चला कि पॉलिथीन एक अलग तरह का कचरा है, जो नष्ट नहीं होता, जो गायों के पेट में, मछलियों के पेट में और यहाँ तक कि समंदर में भी पहाड़ की तरह जमा हो

सकता है और होता जा रहा है, तब एक नई जागरूकता आई। सरकारों ने कानून बनाए और पॉलिथीन पर पाबंदी लगाई।

इसके बाद, फिर कागज लौटा और कागज का थैला लौटा, लेकिन नई रंगत में, नई खूबसूरती के साथ। अब तो बाजार में तरह-तरह के कागज के थैले मिलते हैं—सुंदर, सुरुचिपूर्ण और कलात्मक। खास बात ये है कि ये काफी मजबूत भी होते हैं। क्योंकि अमूमन मान लिया जाता है कि कागज के थैले कमजोर होते हैं, वजन नहीं उठा पाते। लेकिन अब जो थैले आ रहे हैं, उनमें कपड़े या जूते जैसे भारी माने जाने वाले सामान तक आसानी से चले आते हैं। अमूमन, ये थैले इतने सुंदर ढंग से बनाए जाते हैं कि इन्हें फेंकने की इच्छा नहीं होती।

लेकिन इस कलात्मकता का एक कारोबारी पहलू भी है। आपको इन थैलों की कीमत चुकानी पड़ती है। इनमें जो सुंदरता या सुरुचि है, वह सजावट का मामला है। वह दुकानों की हैसियत से लेकर खरीददारों तक के रुतबे का बयान है। पुराना ठोंगा छूटा, कमजोर-हाँफती कागज की पन्नियाँ भी छूटीं, अब ऐसे मजबूत थैले हैं, जिनमें सब्जियाँ, फल, किताबें, कपड़े सब कुछ आ सकते हैं। जिस तरह पुराने मोहल्लों को फोड़कर उनके बीच से ऊँचे अपार्टमेंट निकल आए, कुछ उसी तरह तुड़-मुड़ जाने वाले ठोंगों को छोड़कर ये थैले चले आए, जिन्हें सँभालना, तहाकर रखना और अपनी सुरुचि का प्रदर्शन करते हुए इन पर इठलाना संभव था।

यह सच है कि पुड़िया हो, ठोंगा हो या थैला हो, उनमें कोई बुनियादी अंतर नहीं है। सब कागज से बनते हैं और चीजों को सँभाले रखने का काम करते हैं। ऐसा भी नहीं कि वे बिल्कुल नए या बीसवीं सदी की देन हों या बस हमारे देश में होते हों। सच तो यह है कि कागज के आविष्कार के साथ ही थैले के कई आदिम रूप शुरू हो गए थे। बेशक, कागज पर सबसे ज्यादा काम लिखने या छापने का हुआ, लेकिन इसकी शुरुआत ऐसी नहीं थी। जिस चीन ने पहली बार कागज बनाया, उसने पहली बार उसका इस्तेमाल चीजों को ढँकने के लिए किया। हान वंश के शासक वू के कार्यकाल में ऐसे पुरातात्विक साक्ष्य मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि कागज का इस्तेमाल काँसे के नाजुक शीशों को लपेटने और ढँकने के लिए होता था। इसकी शुरुआत ईसा-पूर्व दूसरी सदी से ही शुरू हो गई थी। कई बार कुछ खतरनाक सामानों के लिए कागज दुहराकर लपेटा जाता था—मसलन, कुछ दवाओं में, जिनमें जहर का इस्तेमाल होता था, ताकि सामान भी सुरक्षित रहे और उसको सँभालने वाला भी बचा रहे। तीसरी सदी से कागज का इस्तेमाल लिखने के लिए शुरू हो गया, लेकिन लपेटने और ढँकने के उसके इस्तेमाल बने रहे।

कागज के थैलों का इतिहास भी सदियों पुराना है। चीन में ही तांग वंश के समय कागज को मोड़कर और सिलकर चौकोर बैग बनाए जाते थे और उनमें चाय रखी जाती थी, ताकि उनकी खुशबू बची रहे। उसी समय कागज के रंगीन कप और अलग-अलग आकारों से सुंदर नैपकिन बनने लगे थे। यानी कागज के थैलों का इतिहास काफी पुराना है। बेशक, आधुनिक समय के थैले काफी बदल गए हैं। इनका इतिहास भी डेढ़ सौ साल से ज्यादा पुराना है। उन्नीसवीं सदी में, यानी 1850 के आस-पास पेन्सिल्वेनिया के एक स्कूल शिक्षक ने ऐसी मशीन बना डाली थी, जो बड़ी संख्या में कागज के थैले तैयार कर सकती थी। ये थैले अगले 120 साल तक खूब चले। बीसवीं सदी में सत्तर के दशक में प्लास्टिक के थैलों ने इन्हें बेदखल करना शुरू किया।

लेकिन अब फिर कागज के थैले लौट रहे हैं। गलता-जलता, कटता-छँटता कागज बचा हुआ है। जिस कबीर ने कागज की तुलना इस अस्थायी-क्षणभंगुर संसार से की थी, वह भी बस वाचिक परंपरा से नहीं, असल में कागज के घर में ही बचा और बसा हुआ है। ये थैले बेशक, नए समय के प्रतीक हैं, लेकिन इनमें पुरानेपन के बहुत सारे रंग बचे हुए हैं। इनमें उन पेड़ों की खुशबू बची हुई है, जिनकी लकड़ियों को काट-छीलकर कागज बनाया गया, इनमें वह स्मृति बची हुई है, जिसके संग हमने सभ्यता का सफर तय किया है। इनका होना इस आश्वस्ति का होना है कि भंगुर से भंगुर मानी जाने वाली चीजें भी एक प्रवाह में अपनी शाश्वत उपस्थिति बनाए रख सकती हैं।

'लाइब्रेरी ऑन व्हील्स' से यात्रा में भी ज्ञान-वृद्धि

भारतीय रेल केवल परिवहन का साधन ही नहीं, अपितु सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को समृद्ध करने का माध्यम भी है। यात्रियों को बेहतर अनुभव देने के लिए समय-समय पर कई अभिनव योजनाएँ शुरू की गई हैं। इन्हीं में एक उल्लेखनीय पहल है 'लाइब्रेरी ऑन व्हील्स' (सचल पुस्तकालय), जिसका उद्देश्य यात्रा के दौरान यात्रियों को पढ़ने की आदत को बढ़ावा देना और उनके समय का रचनात्मक उपयोग सुनिश्चित करना है।

गौरीशंकर वैश्य 'विनम्र'

जन्म : 25 जुलाई, 1951, सीतापुर (उत्तर प्रदेश)

प्रकाशन : 'राजा टोडरमल', 'दानवीर भामाशाह', 'नर नारायण नरोत्तम' (तीनों खंडकाव्य), 'बाल रश्मि', 'पर्यावरणीय बाल कविताएँ', 'विज्ञान बाल कविताएँ', 'अवधी बाल कविताएँ', 'फुर्र-फुर्र' सहित लगभग दो दर्जन पुस्तकें प्रकाशित। देश के प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में लगभग 40 वर्षों से रचनाओं का सतत प्रकाशन। आकाशवाणी लखनऊ से बाल कविता तथा वार्ता प्रसारित।

सम्मान : काव्य रत्न सम्मान (2017); उ.प्र. हिंदी संस्थान, लखनऊ से सोहनलाल द्विवेदी बाल कविता सम्मान (2019); साहित्य गौरव सम्मान (2020), गुणाकरमुले विज्ञान रत्न सम्मान (2021) सहित लगभग पैंतीस साहित्य सम्मान एवं पुरस्कार प्राप्त।

संप्रति : डाक विभाग से सेवानिवृत्त होकर स्वतंत्र लेखन।

संपर्क : मोबाइल– 9956087585

ईमेल– gsvaish51@gmail.com

यह योजना विशेष रूप से उन यात्रियों के लिए उपयोगी है, जो लंबी या नियमित रेल यात्रा करते हैं और यात्रा के दौरान अपने समय का सदुपयोग करना चाहते हैं।

'लाइब्रेरी ऑन व्हील्स' योजना का परिचय

'लाइब्रेरी ऑन व्हील्स' भारतीय रेल की एक अभिनव पहल है, जिसके अंतर्गत चलती ट्रेन में पुस्तकालय की सुविधा उपलब्ध कराई जाती है। इसमें पुस्तकों से भरी एक ट्रॉली या मोबाइल लाइब्रेरी कोच में घूमती रहती है और यात्री अपनी पसंद की पुस्तक लेकर यात्रा के दौरान पढ़ सकते हैं।

सचल पुस्तकालय की अवधारणा

'लाइब्रेरी ऑन व्हील्स' जैसी अवधारणा विश्व के अनेक देशों में विभिन्न रूपों में पहले से प्रचलित रही है। विश्व में सचल पुस्तकालय सेवा को 'मोबाइल लाइब्रेरी' कहा जाता है। यह किसी वाहन—वैन, ट्रक, ट्रेन, यहाँ तक कि नाव में भी संचालित पुस्तकालय होता है। इसका उद्देश्य उन क्षेत्रों तक पुस्तकें पहुँचाना है, जहाँ स्थायी पुस्तकालय उपलब्ध नहीं हैं। यह अवधारणा 19वीं शताब्दी से प्रचलित है और अभी अनेक देशों में सक्रिय है।

अमेरिका में 1904 में वाशिंगटन कंट्री फ्री लाइब्रेरी (मैरीलैंड) ने पहला 'बुक वैगन' शुरू किया। यह घोड़ा-गाड़ी से शुरू होकर बाद में ट्रक आधारित लाइब्रेरी में परिवर्तित हुआ। अमेरिका में आज भी सैकड़ों पुस्तकालय प्रणालियाँ ट्रक मोबाइल चलाती हैं। ये सेवाएँ ग्रामीण क्षेत्र, स्कूल, वृद्धाश्रम और सामुदायिक केंद्र पर दी जाती हैं। कुछ शहरों में 'वर्ड्स ऑन व्हील्स' जैसी पहलें भी शुरू की गई हैं, जो पार्क और स्कूलों तक पहुँचती हैं। इंग्लैंड में 1850 में मोबाइल लाइब्रेरी शुरू हुई। सिंगापुर में 1959 में रैफल्स नेशनल लाइब्रेरी ने मोबाइल लाइब्रेरी वैन शुरू की। नार्वे, स्वीडन, फिनलैंड में 'बुक बस' और 'बुक बोट' लाइब्रेरी चलती है। जर्मनी तथा फ्रांस के शहरों और कस्बों में मोबाइल लाइब्रेरी नियमित रूप से निर्धारित

समय पर पहुँचती है। केन्या, कोलंबिया, इथियोपिया में ऊँट या गधे पर पुस्तकालय चलाए जा रहे हैं। ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, चीन और जापान में डिजिटल मोबाइल लाइब्रेरी बसें चलती हैं।

भारत में 'लाइब्रेरी ऑन व्हील्स' योजना की पृष्ठभूमि

इस योजना की शुरुआत वर्ष 2018 में भारतीय रेल के सेंट्रल रेलवे द्वारा की गई। इसका उद्घाटन 15 अक्तूबर, 2018 को किया गया, जो कि ए.पी.जे. अब्दुल कलाम की जयंती (वाचन प्रेरणा दिवस) के अवसर पर हुआ।

यह पहल महाराष्ट्र सरकार के सहयोग से शुरू हुई, जिसमें राज्य मराठी भाषा विभाग और राज्य मराठी विकास संस्था ने पुस्तकों की व्यवस्था की।

योजना का मुख्य उद्देश्य

- यात्रियों में पढ़ने की आदत विकसित करना
- यात्रा को अधिक रोचक और उपयोगी बनाना
- साहित्य और ज्ञान के प्रसार को बढ़ावा देना

योजना कहाँ-कहाँ उपलब्ध है

'लाइब्रेरी ऑन व्हील्स' योजना प्रारंभ में डक्कन क्वीन एक्सप्रेस तथा पंचवटी एक्सप्रेस ट्रेनों में लागू की गई। यात्री इन ट्रेनों में मराठी, हिंदी और अंग्रेजी की पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें निःशुल्क पढ़ते रहते हैं। यात्रा की समाप्ति पर इन्हें वापस करना होता है।

इन दोनों ट्रेनों में यह सुविधा विशेष रूप से मासिक पास (सीजन टिकट) धारकों के लिए उपलब्ध करायी गई। यह एक पायलट प्रोजेक्ट के रूप में शुरू किया गया था। पुस्तकों को समय-समय पर (लगभग दो-तीन महीने में) बदला जाता था। इन ट्रेनों के अलावा, भारत गौरव डीलक्स एसी टूरिस्ट ट्रेन में भी मिनी लाइब्रेरी की सुविधा है। 10 से 15 दिन तक के लिए यात्रा पर निकले पर्यटक ट्रेन-यात्रा में लाइब्रेरी का पूरा लाभ उठाते हैं। इसके अलावा, भुसावल जैसे रेलवे-स्टेशनों पर भी यात्रियों के लिए लाइब्रेरी की सुविधा उपलब्ध है।

यद्यपि, यह योजना अभी व्यापक रूप से पूरे भारत में लागू नहीं हो सकी है, लेकिन इसे प्रयोगात्मक मॉडल के रूप में देखा जाता है। भविष्य में अन्य ट्रेनों में विस्तार की संभावना व्यक्त की गई है। कुछ स्थानों पर 'बुक ऑन व्हील्स' या 'मोबाइल लाइब्रेरी' के रूप में समान पहलें देखी गई हैं। भारत में रेलवे द्वारा सचल पुस्तकालय को यात्रियों के ज्ञान-वृद्धि से जोड़ा गया है। भारतीय रेल की 'लाइब्रेरी ऑन व्हील्स 'योजना वैश्विक अवधारणा का एक विशिष्ट और नवोन्मेषी रूप है।

योजना का विस्तार

पूर्वोत्तर रेलवे के महाप्रबंधक उदय बोरवणकर ने पढ़ने के शौकीन यात्रियों के लिए ट्रेन में 'लाइब्रेरी ऑन व्हील्स' (सचल पुस्तकालय) की योजना बनाई है। इसके अंतर्गत ट्रेनों के किसी कोच के स्वरूप में बदलाव कर पुस्तकालय का रूप दिया जाएगा। प्रयोग के तौर पर पहले किसी एक ट्रेन का चयन किया जाएगा। यह प्रयोग सफल रहा, तो सभी प्रमुख ट्रेनों में इसकी व्यवस्था सुनिश्चित की जाएगी। कन्फर्म टिकट पर यात्रा कर रहे यात्री पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ आदि इश्यू कराकर अपनी सीट पर पढ़ सकेंगे। पुस्तकों को जारी और जमा करने की जिम्मेदारी कोच अटेंडेंट की होगी। महाप्रबंधक के निर्देश पर रेलवे प्रशासन ने इसके एसओपी (मानक संचालन प्रक्रिया) का मंथन आरंभ कर दिया गया है। महाप्रबंधक का मानना है कि लोगों में पढ़ने की आदत समाप्त होती जा रही है। अब यात्रा में लोग मोबाइल फोन या लैपटाप में रील आदि देखने में लगे रहते हैं। इस योजना से यात्रियों को अतिरिक्त सुविधा मिलने के साथ लोगों में पुस्तकों के प्रति लगाव भी बढ़ेगा।

योजना की कार्यप्रणाली

'लाइब्रेरी ऑन व्हील्स' का संचालन सरल, लेकिन प्रभावी तरीके से किया जाता है, जो इस प्रकार है :

(1) पुस्तक वितरण हेतु एक कर्मचारी या स्वयंसेवक (वाचनदूत) ट्रेन के डिब्बों में घूमता है तथा वह यात्रियों को पुस्तकें उपलब्ध कराता है।
(2) इसमें यात्री अपनी पसंद की पुस्तक चुन सकते हैं, जिसमें साहित्य, कहानी, उपन्यास, पत्रिकाएँ आदि शामिल होते हैं।
(3) यात्रियों को यात्रा समाप्त होने से पहले पुस्तक वापस करनी होती है। इसके लिए कोई अतिरिक्त शुल्क नहीं लिया जाता।
(4) पहचान/पंजीकरण के रूप में
(5) इस सुविधा के लिए यात्री से मोबाइल नंबर या पहचान-पत्र (जैसे आधार) लिया जाता है।

यात्रियों के लिए योजना की उपयोगिता

(क) इस योजना में यात्रियों को पुस्तकें एवं पत्रिकाएँ पढ़ने को मिलती हैं, जिससे वे समय का सदुपयोग करते हैं। रेल यात्रा में यात्रियों का अकसर समय निष्क्रिय रूप से व्यतीत होता है, यह योजना उस समय को उपयोगी बनाती है।

(ख) इस योजना से पठन-संस्कृति का विकास होता है, क्योंकि आधुनिक समय में पढ़ने की आदत कम होती जा रही है। यह योजना यात्रियों को पढ़ने के लिए प्रेरित करती है।

(ग) पुस्तक पढ़ना तनाव कम करता है। इस योजना के माध्यम से यात्रा के दौरान पुस्तक पढ़ने से मनोरंजन का स्वस्थ साधन उपलब्ध होता है।

(घ) विद्यार्थियों एवं प्रतियोगी परीक्षार्थियों के लिए यह योजना अत्यंत लाभदायक है, क्योंकि इससे छात्रों को उपयोगी सामग्री मिल सकती है। यह उनके अध्ययन में सहायक हो सकती है।

(ङ) विभिन्न विषयों की पुस्तकें समाज, संस्कृति और विज्ञान के प्रति जागरूकता बढ़ाती हैं।

योजना की विशेषताएँ

निःशुल्क सेवा—यात्रियों को कोई शुल्क नहीं देना पड़ता।

सचल पुस्तकालय—ट्रेन के भीतर ही पुस्तकें उपलब्ध होती हैं।

सरल प्रक्रिया—बिना जटिल औपचारिकताओं के उपयोग।

साझेदारी मॉडल—इसमें रेलवे, राज्य सरकार तथा अन्य संस्थाओं की भागीदारी रहती है।

नियमित अद्यतन—समय-समय पर नई पुस्तकें और पत्रिकाएँ उपलब्ध कराई जाती हैं।

पुस्तक वापसी—यात्रा समाप्ति के पूर्व ही पुस्तक वापसी करनी होती है।

पठन-संस्कृति का विकास—इस योजना का उद्देश्य पठन-संस्कृति का विकास करना है।

नियमावली

यद्यपि, इस योजना की कोई विस्तृत सार्वजनिक नियमावली उपलब्ध नहीं है, फिर भी इसके संचालन से संबंधित सामान्य नियम इस प्रकार हैं—

(1) पुस्तक उधार लेने के नियम—केवल यात्रा के दौरान ही पुस्तक उपयोग की अनुमति तथा यात्रा समाप्त होने से पहले पुस्तक लौटाना अनिवार्य।

(2) पात्रता—प्रारंभ में यह सुविधा सीजन टिकट धारकों तक सीमित थी। अब कन्फर्म टिकट धारकों के लिए यह सुविधा उपलब्ध है।

(3) पहचान—पहचान के लिए कुछ मामलों में मोबाइल नंबर/पहचान दर्ज की जाती है।

(4) पुस्तक की सुरक्षा—पुस्तक को सुरक्षित रखना यात्री की जिम्मेदारी है। पुस्तक के क्षति या गुम होने पर दंड संभव है।

(5) सीमित संख्या—एक समय में सीमित संख्या में पुस्तकें उपलब्ध कराई जा सकती हैं।

“‘लाइब्रेरी ऑन व्हील्स’ योजना भविष्य में अत्यंत प्रभावी हो सकती है, यदि इसे अधिक ट्रेनों में लागू किया जाए, डिजिटल लाइब्रेरी (ई-बुक) से जोड़ा जाए, विभिन्न भाषाओं की पुस्तकें शामिल की जाएँ तथा निजी प्रकाशकों और संस्थाओं को जोड़ा जाए। यह योजना भारत जैसे विशाल देश में ज्ञान के प्रसार का सशक्त माध्यम बन सकती है।”

योजना की चुनौतियाँ

(क) सीमित विस्तार—यह योजना अभी कुछ ही ट्रेनों तक सीमित है।

(ख) संसाधनों की कमी—पुस्तकों की संख्या और विविधता सीमित है।

(ग) प्रबंधन संबंधी समस्याएँ—वितरण और संग्रह में कठिनाई की समस्या है, क्योंकि इसके लिए कर्मचारियों की कमी है।

(घ) जागरूकता की कमी—अधिकांश यात्रियों को इस सुविधा की जानकारी नहीं होती, जिससे वे इस योजना का लाभ नहीं उठा पाते।

योजना की संभावनाएँ

‘लाइब्रेरी ऑन व्हील्स’ योजना भविष्य में अत्यंत प्रभावी हो सकती है, यदि इसे अधिक ट्रेनों में लागू किया जाए, डिजिटल लाइब्रेरी (ई-बुक) से जोड़ा जाए, विभिन्न भाषाओं की पुस्तकें शामिल की जाएँ तथा निजी प्रकाशकों और संस्थाओं को जोड़ा जाए। यह योजना भारत जैसे विशाल देश में ज्ञान के प्रसार का सशक्त माध्यम बन सकती है।

निस्संदेह, यह कहा जा सकता है कि ‘लाइब्रेरी ऑन व्हील्स’ भारतीय रेल की एक अभिनव, उपयोगी और समाजोपयोगी पहल है। यह केवल यात्रा को सुविधाजनक बनाने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उसे ज्ञान और संस्कृति से जोड़ने का प्रयास भी है। यद्यपि, इसका विस्तार अभी सीमित है, लेकिन इसकी अवधारणा अत्यंत प्रभावशाली है। यदि इसे व्यापक स्तर पर लागू किया जाए, तो यह न केवल यात्रियों के अनुभव को समृद्ध करेगी, अपितु देश में पठन-संस्कृति को पुनर्जीवित करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

वन, प्रकृति और भविष्य
सतत सह-अस्तित्व की अनिवार्यता

कल्पना कीजिए एक ऐसी पृथ्वी की, जहाँ स्वच्छ हवा धीरे-धीरे दुर्लभ हो जाए, नदियाँ अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करें और मौसम का चक्र असंतुलित होकर जीवन को कठिन बना दे—यह कोई काल्पनिक स्थिति नहीं, बल्कि वनों के निरंतर क्षरण से उत्पन्न हो रहा वास्तविक संकट है। धरती पर जीवन की निरंतरता पूरी तरह प्रकृति के संतुलन पर आधारित है और इस संतुलन को बनाए रखने में वनों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। वन केवल पेड़ों का समूह नहीं हैं, बल्कि वे पृथ्वी की जीवन-व्यवस्था के ऐसे सजीव घटक हैं, जो वायु, जल, मिट्टी और जलवायु के बीच एक अदृश्य, किंतु अत्यंत मजबूत संतुलन स्थापित करते हैं। यदि इस संतुलन में जरा-सा भी परिवर्तन होता है, तो उसका प्रभाव सीधे मानव-जीवन और संपूर्ण जैव जगत पर पड़ता है।

पेड़-पौधे प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया के माध्यम से वातावरण से कार्बन डाइऑक्साइड को अवशोषित कर ऑक्सीजन का उत्सर्जन करते हैं, जिससे वायुमंडल शुद्ध और जीवन के अनुकूल बना रहता है। यही कारण है कि वन पृथ्वी के 'फेफड़े' कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त, वे वातावरण में नमी को संतुलित रखते हैं, वर्षा चक्र को नियंत्रित करते हैं और तापमान को स्थिर बनाए रखते हैं। वैज्ञानिक अध्ययनों से स्पष्ट हुआ है कि वनों से होने वाला वाष्पोत्सर्जन बादलों के निर्माण में सहायक होता है, जिससे वर्षा का वितरण संतुलित रहता है और कृषि-प्रणाली सुरक्षित रहती है। वनों की जड़ें मिट्टी को मजबूती से पकड़कर रखती हैं, जिससे मृदा अपरदन, भूस्खलन और बाढ़ जैसी समस्याएँ कम होती हैं। जिन क्षेत्रों में वन अधिक होते हैं, वहाँ भूमि अधिक उपजाऊ और पारिस्थितिक रूप से स्थिर रहती है।

वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में वनों का महत्व और भी बढ़ गया है, क्योंकि जलवायु परिवर्तन आज मानवता के सामने सबसे बड़ी चुनौती बनकर उभरा है। भारत राज्य वन रिपोर्ट (2023-2025) के अनुसार, देश का कुल वन एवं वृक्ष आच्छादन लगभग 24.6 प्रतिशत है, जो राष्ट्रीय लक्ष्य 33 प्रतिशत से अभी भी काफी कम है। यद्यपि, कुछ क्षेत्रों में वृक्षारोपण के प्रयासों से वृद्धि हुई है, परंतु प्राकृतिक वनों का क्षरण चिंता का विषय बना हुआ है। वैश्विक स्तर

डॉ. दीपक कोहली

- वर्ष 1996 में बीरबल साहनी पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान, लखनऊ से वनस्पति विज्ञान में पीएच-डी. की उपाधि प्राप्त की। विगत तीन दशकों से साहित्य एवं विज्ञान लेखन के क्षेत्र में सक्रिय।
- अब तक पाँच पुस्तकें प्रकाशित। साथ ही, एक हजार से अधिक लेख देश की प्रतिष्ठित राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त, अनेक वार्ताएँ आकाशवाणी, लखनऊ से प्रसारित हो चुकी हैं।
- अनेक प्रतिष्ठित सम्मानों से अलंकृत, जिनमें से प्रमुख—डॉ. गोरखनाथ विज्ञान पुरस्कार, पर्यावरण रत्न सम्मान, साहित्य गौरव पुरस्कार, विज्ञान साहित्य रत्न पुरस्कार, तुलसी साहित्य सम्मान, संपूर्णानंद पुरस्कार, अमृतलाल नागर पुरस्कार, जगपति चतुर्वेदी लेखन सम्मान, विज्ञान गौरव सम्मान आदि हैं।
- **संप्रति :** उत्तर प्रदेश सचिवालय, लखनऊ में विशेष सचिव के पद पर कार्यरत।

संपर्क : मोबाइल— 8840129826

पर ग्लोबल फॉरेस्ट वॉच के अनुसार, वर्ष 2023 में दुनिया ने लगभग 3.7 मिलियन हेक्टेयर प्राथमिक उष्णकटिबंधीय वन खो दिए। यह केवल पेड़ों की संख्या में कमी नहीं, बल्कि पृथ्वी के पारिस्थितिक संतुलन के लिए एक गंभीर खतरा है।

इसी संदर्भ में, प्रत्येक वर्ष 01 से 07 जुलाई तक मनाया जाने वाला 'वन महोत्सव सप्ताह' हमारे लिए एक महत्वपूर्ण अवसर प्रदान करता है, जब हम वनों के महत्व को केवल समझते ही नहीं, बल्कि उसे व्यवहार में भी उतारने का प्रयास करते हैं। वर्षा ऋतु के आगमन के साथ यह समय वृक्षारोपण के लिए अत्यंत अनुकूल होता है, और

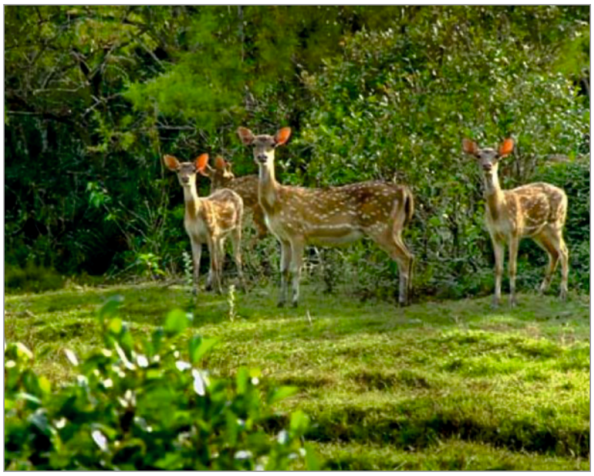

देशभर में लाखों पौधे लगाए जाते हैं। विद्यालयों, महाविद्यालयों, पंचायतों और सामाजिक संगठनों के माध्यम से यह अभियान जन-आंदोलन का रूप लेता है। किंतु इसका वास्तविक उद्देश्य केवल पौधे लगाना नहीं, बल्कि उनके संरक्षण, संवर्धन और दीर्घकालिक देखभाल को सुनिश्चित करना है। यह सप्ताह हमें यह स्मरण कराता है कि प्रकृति के प्रति हमारी जिम्मेदारी केवल एक दिन की औपचारिकता नहीं, बल्कि जीवनभर निभाई जाने वाली सतत प्रतिबद्धता है।

आज के दौर में यह समझना अत्यंत आवश्यक है कि वन केवल प्राकृतिक संसाधन नहीं, बल्कि 'प्राकृतिक पूँजी' हैं, जिनका मूल्यांकन पारंपरिक आर्थिक मानकों से कहीं अधिक व्यापक है। वनों द्वारा प्रदान की जाने वाली पारिस्थितिकी सेवाएँ, जैसे स्वच्छ वायु, जल शुद्धीकरण, कार्बन अवशोषण, परागण और जलवायु नियंत्रण, मानव-जीवन की आधारशिला हैं, फिर भी इनका आर्थिक आकलन प्रायः अनदेखा रह जाता है। यदि इन सेवाओं का वास्तविक मूल्यांकन किया जाए, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि वनों का संरक्षण केवल पर्यावरणीय आवश्यकता नहीं, बल्कि आर्थिक विवेक का भी प्रश्न है। विकसित देशों में 'ग्रीन जीडीपी' और 'इकोसिस्टम सर्विस वैल्यूशन' जैसे विचार तेजी से प्रचलित हो रहे हैं, जो यह दर्शाते हैं कि सतत विकास के लिए प्रकृति को आर्थिक नीति के केंद्र में लाना अनिवार्य है। भारत जैसे देश में, जहाँ बड़ी आबादी सीधे प्रकृति पर निर्भर है, यह दृष्टिकोण और भी अधिक प्रासंगिक हो जाता है।

वन पृथ्वी की जैव विविधता के सबसे बड़े संरक्षक हैं। असंख्य वनस्पतियों, जीव-जंतुओं, पक्षियों और सूक्ष्म जीवों का जीवन इन्हीं पर निर्भर करता है। यह विविधता ही पारिस्थितिकी तंत्र को संतुलित बनाए रखती है। जब वनों का विनाश होता है, तो न केवल प्रजातियाँ विलुप्त होती हैं, बल्कि संपूर्ण खाद्य शृंखला प्रभावित होती है। इसके परिणामस्वरूप मानव-वन्यजीव संघर्ष की घटनाएँ बढ़ती हैं, क्योंकि अपने प्राकृतिक आवास के अभाव में वन्यजीव मानव बस्तियों की ओर रुख करते हैं। इसके अतिरिक्त, जैव विविधता का ह्रास नई बीमारियों और महामारियों के उभरने की संभावना को भी बढ़ा देता है।

वनों का महत्व केवल पर्यावरणीय दृष्टि तक सीमित नहीं है, बल्कि उनका आर्थिक और सामाजिक योगदान भी अत्यंत व्यापक है। विश्व बैंक के अनुसार, लगभग 1.6 अरब लोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वनों पर निर्भर हैं। भारत में ग्रामीण और आदिवासी समुदायों के लिए वन जीवन का आधार हैं। वे लघु वनोपज के माध्यम से अपनी आजीविका चलाते हैं और प्रकृति के साथ संतुलन बनाकर जीवनयापन करते हैं। वन आधारित उद्योग, जैसे कागज, औषधि, रबड़ और पर्यटन अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से भी वनों का विशेष महत्व रहा है। भारतीय परंपरा में वनों को 'देववन' के रूप में सम्मानित किया गया है, जहाँ ज्ञान और आध्यात्मिकता का विकास हुआ।

जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में वनों की भूमिका किसी 'हरित कवच' से कम नहीं है। वे कार्बन सिंक के रूप में कार्य करते हैं, अर्थात वातावरण से कार्बन डाइऑक्साइड को अवशोषित कर उसे संचित करते हैं। खाद्य और कृषि संगठन के अनुसार विश्व के वन हर वर्ष लगभग 2.6 अरब टन कार्बन डाइऑक्साइड को अवशोषित करते हैं। यदि वनों का विनाश इसी गति से जारी रहा, तो यह संतुलन बिगड़ जाएगा और वैश्विक तापमान में वृद्धि और तेज हो जाएगी।

अंतरसरकारी पैनल ऑन क्लाइमेट चेंज ने भी स्पष्ट किया है कि तापमान वृद्धि को नियंत्रित करने के लिए बड़े पैमाने पर वनीकरण और वन-संरक्षण अनिवार्य है।

वर्तमान समय में वनों पर बढ़ते दबाव के पीछे अनेक कारण हैं। अनियोजित शहरीकरण, औद्योगीकरण, खनन गतिविधियाँ और कृषि

"वन संरक्षण केवल सरकारों या संस्थाओं का दायित्व नहीं, बल्कि प्रत्येक नागरिक की जीवनशैली और दैनिक निर्णयों से जुड़ा हुआ प्रश्न है। अंततः, यह स्पष्ट है कि वन, प्रकृति और मानव का संबंध प्रतिस्पर्धा का नहीं, बल्कि सह-अस्तित्व का है। विकास की अंधी दौड़ में यदि हमने इस संतुलन को भंग कर दिया, तो प्रगति का यह मार्ग स्वयं विनाश की ओर मुड़ जाएगा। सतत सह-अस्तित्व का अर्थ केवल संसाधनों का उपभोग नहीं, बल्कि उनके संरक्षण, संवर्धन और पुनर्सजन की जिम्मेदारी को स्वीकार करना है। यह पृथ्वी हमें विरासत में नहीं मिली है, बल्कि हमने इसे आने वाली पीढ़ियों से उधार लिया है। इसलिए वनों का संरक्षण कोई विकल्प नहीं, बल्कि हमारे अस्तित्व की अनिवार्यता है।"

विस्तार के लिए बड़े पैमाने पर जंगलों की कटाई की जा रही है। इसके अतिरिक्त, अवैध कटाई और उपभोक्तावादी संस्कृति ने भी इस समस्या को और गंभीर बना दिया है। कागज, फर्नीचर और पैकेजिंग की बढ़ती माँग सीधे तौर पर वनों पर निर्भर है। यदि यह प्रवृत्ति जारी रही, तो आने वाले समय में वनों का अस्तित्व ही संकट में पड़ सकता है।

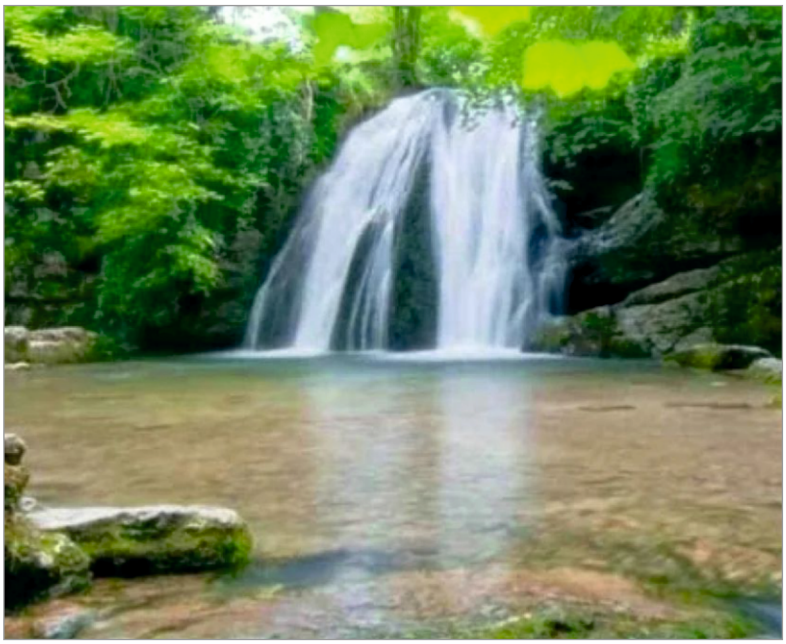

हालाँकि, इस चुनौती से निपटने के लिए विभिन्न स्तरों पर प्रयास भी किए जा रहे हैं। आधुनिक तकनीक के उपयोग से वनों की निगरानी और संरक्षण को अधिक प्रभावी बनाया जा रहा है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता, ड्रोन और सैटेलाइट इमेजिंग के माध्यम से वनों की स्थिति का वास्तविक समय में आकलन संभव हो गया है। 'स्मार्ट फॉरेस्ट' की अवधारणा इसी दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है, जहाँ तकनीक और प्रकृति का संतुलित समन्वय स्थापित किया जा रहा है। इसके साथ ही, सामुदायिक भागीदारी को बढ़ावा देना अत्यंत आवश्यक है। जब स्थानीय समुदाय वन संरक्षण में सक्रिय रूप से शामिल होते हैं, तब संरक्षण के प्रयास अधिक टिकाऊ और प्रभावी सिद्ध होते हैं।

वनीकरण और पारिस्थितिक बहाली इस दिशा में महत्वपूर्ण उपाय हैं, परंतु यह आवश्यक है कि वृक्षारोपण केवल संख्या तक सीमित न रहे, बल्कि गुणवत्ता और विविधता पर भी समान ध्यान दिया जाए। स्थानीय प्रजातियों पर आधारित वृक्षारोपण, जलवायु और मिट्टी के अनुसार पौधों का चयन तथा उनके संरक्षण की उचित व्यवस्था दीर्घकालिक सफलता के लिए आवश्यक है। नीम, पीपल, बरगद और महुआ जैसे वृक्ष न केवल पारिस्थितिकी संतुलन को मजबूत करते हैं, बल्कि जल संरक्षण, जैव विविधता और मृदा उर्वरता को भी बढ़ाते हैं।

वन संरक्षण केवल सरकारों या संस्थाओं का दायित्व नहीं, बल्कि प्रत्येक नागरिक की जीवनशैली और दैनिक निर्णयों से जुड़ा हुआ प्रश्न है। अंततः, यह स्पष्ट है कि वन, प्रकृति और मानव का संबंध प्रतिस्पर्धा का नहीं, बल्कि सह-अस्तित्व का है। विकास की अंधी दौड़ में यदि हमने इस संतुलन को भंग कर दिया, तो प्रगति का यह मार्ग स्वयं विनाश की ओर मुड़ जाएगा। सतत सह-अस्तित्व का अर्थ केवल संसाधनों का उपभोग नहीं, बल्कि उनके संरक्षण, संवर्धन और पुनर्सजन की जिम्मेदारी को स्वीकार करना है। यह पृथ्वी हमें विरासत में नहीं मिली है, बल्कि हमने इसे आने वाली पीढ़ियों से उधार लिया है। इसलिए वनों का संरक्षण कोई विकल्प नहीं, बल्कि हमारे अस्तित्व की अनिवार्यता है। महात्मा गांधी के शब्दों में, 'प्रकृति हमारी आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है, लेकिन हमारे लालच को नहीं', और यही चेतावनी आज पहले से अधिक प्रासंगिक है। वृक्ष रहेंगे तो धरा रहेगी, और धरा रहेगी तो जीवन संभव होगा। अतः आइए, हम केवल वृक्षारोपण तक सीमित न रहें, बल्कि उन्हें जीवित रखने, पोषित करने और हरित भविष्य के निर्माण का संकल्प लें। यही संकल्प आने वाली पीढ़ियों के प्रति हमारी सबसे बड़ी जिम्मेदारी और सच्ची विरासत होगी।

दूसरी पारी के बदलते मायने

विगत दो-तीन दशकों में तीव्र गति से फैलते उपभोक्तावाद, शहरों के तेज रफ्तार विकास, लोगों में 'पर्सनल स्पेस' की बढ़ती चाहत, आर्थिक तनाव और जीवन को बेहतर बनाने की अंधी दौड़ में खुद को झोंक देने वाले युवाओं की निरंतर बढ़ती तादात ने हमारे सामाजिक हालातों में बड़ा बदलाव ला दिया है। इससे न केवल बुजुर्गों के प्रति सम्मानभाव में कमी आई है, बल्कि उनकी मौजूदगी को नजरअंदाज करने और एक हद तक उन्हें अपनी तरक्की और प्राइवेसी के बीच बाधा मानने की सोच भी विकसित हुई है।

सामाजिक संस्था, 'हेल्पेज इंडिया' द्वारा लॉकडाउन में बुजुर्गों की स्थिति जानने के लिए 'द एल्डर स्टोरी : ग्राउंड रियलिटी ड्यूरिंग कोविड 19' नाम से किये गए एक देशव्यापी सर्वे में इसका खुलासा हुआ। इसके अंतर्गत देश के 17 राज्य और चार केंद्रशासित प्रदेशों के सभी वर्गों के पाँच हजार से अधिक बुजुर्गों पर किये गए सर्वे में कई तथ्यों के अलावा सबसे चौंकाने वाली बात यह सामने आई कि लॉकडाउन के दौरान परिवार के सभी सदस्यों की घर में उपस्थिति के बावजूद 61 प्रतिशत बुजुर्गों ने अकेलापन और सामाजिक रूप से स्वयं को अलग-थलग महसूस किया। इनमें शहरी और ग्रामीण क्षेत्र के बुजुर्गों की संख्या बराबर यानी 50-50 प्रतिशत रही। सवाल उठता है आखिर ऐसा क्यों?

यह चिंता की बात है कि इन दस करोड़ से ज्यादा वयोवृद्ध स्त्री-पुरुषों में एक-तिहाई असहनीय निर्धनता में जी रहे हैं। छह करोड़ बुजुर्ग गरीबी से त्रस्त हैं। देश के ग्रामीण और शहरी वृद्धों में से एक-तिहाई 65 वर्ष की उम्र के आगे भी किसी-न-किसी प्रकार का उपयोगी श्रम करते हैं, लेकिन 90 प्रतिशत असंगठित क्षेत्र के रोजगारों में उम्र बिताने के कारण कोई पेंशन नहीं पाते। कुल वृद्ध जनसंख्या का आधे से ज्यादा दंपती अपनी गृहस्थी अलग रखते हैं। एक-तिहाई अपने बेटे के परिवार के साथ रहते हैं। कुछ बेसहारा वृद्ध अपनी बेटी के परिवार में भी रहते हैं।

दीर्घायु हो रहे भारतीयों के प्रति उनके परिवारजनों के और समुदाय की संवेदनशीलता और जिम्मेदारी निर्वाह के बारे में स्थिति उत्साहजनक नहीं है। लापरवाही और गैर-जिम्मेदारी शिक्षा और शहरीकरण के अनुपात में बढ़ती जा रही है। गाँवों से शहरों में ज्यादा। गरीबों और अनपढ़ों से अमीरों और पढ़े-लिखे परिवारों में और भी ज्यादा। आधुनिक दृष्टि से यह अनुचित है

डॉ. दिनेश पाठक

- राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं हेतु कला, संस्कृति, संगीत एवं सामयिक लेखन एवं संपादन में दीर्घकालीन संलग्नता। आकाशवाणी, दूरदर्शन एवं विभिन्न टीवी चैनलों हेतु, डॉक्यूमेंट्री स्क्रिप्ट लेखन, निर्माण एवं प्रस्तुतकर्ता के रूप में भी सक्रिय।
- पुस्तक 'नव्यता के नायक पंडित रविशंकर' हेतु म.प्र. साहित्य अकादमी द्वारा राष्ट्रीय विष्णु प्रभाकर पुरस्कार, प्रतिष्ठित शब्द शिल्पी सम्मान, म.प्र. लेखक संघ के साहित्यिक पत्रकारिता सम्मान सहित अनेक सम्मानों से विभूषित।
- पूर्व कुल सचिव, राजा मानसिंह तोमर संगीत एवं कला विश्वविद्यालय, ग्वालियर। वर्तमान में स्वतंत्र लेखन।

संपर्क : मोबाइल– 9425775260, 9132021911
ईमेल– dpathak2005@gmail.com

कि हम अशक्त हो रहे माता-पिता और दादा-दादी की बुनियादी और मानवीय जरूरतों को पूरा करने की जिम्मेदारी से बचें। यह हमारी परंपरा के भी विरुद्ध आचरण है।

अपने बुजुर्गों की देखभाल करने के लिए प्रसिद्ध, इस देश में वृद्धाश्रम संस्कृति तेजी से बढ़ रही है। हालाँकि, पारंपरिक भारतीय दृष्टिकोण से किसी संतान द्वारा, अपने वृद्ध माता-पिता को वृद्धाश्रम का रास्ता दिखाना, अभी भी सामाजिक भर्त्सना का विषय है। लेकिन प्रश्न उभरता है कि आई.आई.टी, इंजीनियरिंग और दूसरी बेहतरीन उच्च शिक्षा और कॉम्पिटीशन के लिए, इस पीढ़ी को जुनूनी बनाने में क्या उस पीढ़ी का हाथ नहीं रहा, जो आज ग्रे पॉपुलेशन में शुमार है?

“यह माना जाता है कि भारत में ‘परिवार’ नामक संस्था पूर्व काल में अत्यधिक मजबूत रही है, कई-कई पीढ़ियों के संयुक्त परिवार इसके गवाह हैं। वो संयुक्त परिवार प्रथा तो काफी पहले ही ध्वस्त हो चुकी है, वर्तमान में एकल परिवारों में भी माता-पिता की देखभाल और भरण-पोषण एक समस्या बनता जा रहा है। आज का युवा स्वयं के बच्चों और अपने माता-पिता की देखभाल की दुविधा में, खुद को असहाय पा रहा है। उसके पास पैसा तो भरपूर है, लेकिन बुजुर्गों को देने के लिए समय और वह भावनात्मक संबल नहीं है, जिसके सहारे उन्होंने खुद अपने बचपन से जवानी तक का सफर तय किया।”

भारत में 100 साल पहले औसत उम्र 30 वर्ष थी, जो अब बढ़कर 65 वर्ष से भी अधिक हो गई है और मृत्यु-दर भी घट रही है। परिणामस्वरूप, देश में वरिष्ठ नागरिकों की संख्या निरंतर बढ़ रही है। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि अब हमें वरिष्ठजन के प्रति दुर्व्यवहार, बच्चों पर बोझ समझे जाने, अकेलेपन, आर्थिक-तंगी, स्वास्थ्य समस्याएँ जैसी बातें अधिक सुनने को मिलती हैं।

घर-घर की कहानी बनती जा रही ऐसी घटनाएँ, एक हद तक बदलते परिवेश और घटते जीवन-मूल्यों का परिणाम ही हैं। एक समाजशास्त्रीय अध्ययन के अनुसार, वैश्वीकरण के बाद युवा होती पीढ़ी ने, दरअसल किसी बड़ी त्रासदी का सामना नहीं किया है। उन्होंने विभाजन और आजादी के बाद के दशकों की, आर्थिक एवं सामाजिक परेशानियों का सिर्फ जिक्र ही सुना है। इसलिए इस पीढ़ी के सामने शायद ‘अनुपयोगी’ बुजुर्गों की देखभाल या उन्हें एक सम्मानित तथा सुविधापूर्ण जीवनयापन उपलब्ध कराना ही कई बार एक कठिन कार्य प्रतीत होता है। दरअसल, इसके लिए उनके संस्कार नहीं, उनकी वह सोच जिम्मेदार होती है, जिसे हमने उन्हें उच्चतम शिक्षा संस्थानों और अंतरराष्ट्रीय व्यावसायिक प्रतिष्ठानों तक पहुँचाकर विकसित की है और जिसमें व्यक्ति अथवा वस्तु का मूल्यांकन, उसकी उपादेयता यानी ‘यूटिलिटी वैल्यू’ पर ही निर्भर करता है। हमारा समाज ‘संक्रांति काल’ से गुजर रहा है। भावनाओं और संबंधों पर आधारित भारतीय समाज, नियमों पर यंत्रवत चलने वाली पश्चिमी व्यवस्था में ढलने का प्रयास कर रहा है। ऐसी परिस्थिति में टकराव अवश्यंभावी है।

भारत सरकार ने वरिष्ठ नागरिकों की उचित देखभाल के लिए ‘मेंटेनेंस एंड वेलफेयर ऑफ पैरेंट्स एंड सीनियर सिटीजन एक्ट 2007’ लागू किया। इसके प्रावधानों में जुर्माने से लेकर जेल तक सम्मिलित है, साथ ही पैतृक संपत्ति से बेदखली जैसे प्रावधान भी हैं। लेकिन इस अधिनियम के प्रावधानों का प्रयोग अपनी ही संतानों के विरुद्ध करने से पहले कोई भी बुजुर्ग जिस पारिवारिक और सामाजिक संत्रास से गुजरेगा उसकी कल्पना ही भयावह है।

यह माना जाता है कि भारत में ‘परिवार’ नामक संस्था पूर्व काल में अत्यधिक मजबूत रही है, कई-कई पीढ़ियों के संयुक्त परिवार इसके गवाह हैं। वो संयुक्त परिवार प्रथा तो काफी पहले ही ध्वस्त हो चुकी है। वर्तमान में एकल परिवारों में भी माता-पिता की देखभाल और भरण-पोषण एक समस्या बनता जा रहा है। आज का युवा स्वयं के बच्चों और अपने माता-पिता की देखभाल की दुविधा में खुद को असहाय पा रहा है। उसके पास पैसा तो भरपूर है, लेकिन बुजुर्गों को देने के लिए समय और वह भावनात्मक संबल नहीं है, जिसके सहारे उन्होंने खुद अपने बचपन से जवानी तक का सफर तय किया।

वृद्धावस्था या वरिष्ठ नागरिकता के कई पहलू हैं। भारतीयता की समझ यह है कि जो उम्र में बढ़ा हुआ है और जीवन के बहुविध अनुभवों से समृद्ध है, वह वृद्ध है। भारतीय जीवनचर्या के चार विभाजनों में गृहस्थ आश्रम के बाद बुजुर्गियत की ओर कदम बढ़ते हैं, तो ही व्यक्ति वानप्रस्थ और संन्यास की ओर बढ़ने की काबिलियत

हासिल करता है। ये दोनों ही आश्रम व्यक्ति के जीवन में सामाजिक अवदान के लिए सबसे महत्वपूर्ण माने गए हैं। यह बुढ़ापे का ही सम्मान है कि हमारी संस्कृति में पितृऋण और ऋषिऋण की एक समूची गौरवशाली आयोजना मौजूद है। लेकिन आज का दौर बदल गया है। अब जीवन के चौथेपन में प्रवेश एकतरफा नहीं है। सुख-दुख,

मान-अपमान, अपेक्षा-उपेक्षा सबका घालमेल है। आज के समय में बुजुर्ग इस बात के लिए एकदम से आश्वस्त नहीं हो सकते कि उनकी संतानें बुढ़ापे की लाठी बनेंगी ही। सच्चाई है कि वृद्ध भी अब विस्थापन के शिकार हैं। वृद्धाश्रम इस जमाने की ही पैदाइश हैं। अमीर बुजुर्गों की अलग परेशानियाँ हैं, तो गरीब बुजुर्गों की कुछ अलग।

एक सच यह भी है कि जीवन की बढ़ती सहूलियतों के चलते औसत आयु बढ़ रही है तो वृद्धों की आबादी भी बढ़ रही है। पचास के दशक में एक भारतीय की जो औसत आयु 42 वर्ष थी, वह अब 67 वर्ष के आस-पास आ गई है। इस तरह इस देश में करीब 10 करोड़ से भी अधिक बुजुर्गों की एक बड़ी संख्या हमारे सामने है, जिनकी देखभाल, जिनके मान-सम्मान का बड़ा सवाल है।

इस सबके बावजूद, दूसरा पहलू यह भी है कि बुजुर्ग पीढ़ी के पास अनगिन अनुभवों की अमूल्य थाती है। जीवन की सांध्य बेला में हमारे बुजुर्ग अपने पाँवों पर खड़े होने की जद्दोजहद में लगी नई पीढ़ी के लिए जीवन का नया संदेश दे सकते हैं। इतिहास गवाह है कि अंततः बुजुर्ग अनुभवों पर ही समाज स्थायित्व का बल पाता रहा है। बात अनुभूति की है। मानिए तो जीवन का अंत, नहीं तो यह अनुभवों को बाँटने-सहेजने की नई शुरुआत है। सीखने की कोई उम्र नहीं होती और बुढ़ापे में तो मनमाफिक नई चीजें सीखने का भरपूर मौका ही मिल जाता है।

वृद्धावस्था के अपने सुख हैं, तो दुख भी। वक्त के साथ-साथ इनके रूप भी बदले हैं। कभी संयुक्त परिवारों में वृद्धों का अपना रुतबा था, अब एकल परिवारों में वैसी स्थितियाँ नहीं रहीं। लेकिन यह भी सच है कि सारे जीवन का अनुभव हमारे बुढ़ापे को परिपक्व बनाता है और यह हम पर निर्भर करता है कि उसका सौंदर्य कैसे बनाए रखें। वृद्ध होना एक सौभाग्य है। इसके अलावा, जो लोग इस मुकाम तक पहुँच चुके हैं, वे न केवल हमारे सम्मान, बल्कि हमारे प्यार, ध्यान और कृतज्ञता के भी पात्र हैं।

इसी दृष्टिकोण को लेकर 'विश्व वरिष्ठ नागरिक दिवस' हर साल 21 अगस्त को मनाया जाता है। इसकी शुरुआत 1988 में अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन द्वारा एक राष्ट्रीय आयोजन के रूप में हुई थी और बाद में इसे संयुक्त राष्ट्र की मान्यता प्राप्त हुई। इसका उद्देश्य विभिन्न पीढ़ियों के बीच आपसी जुड़ाव को बढ़ावा देना और बुजुर्गों के प्रति सम्मान और गरिमा को प्रोत्साहित करना है। यह बुजुर्गों द्वारा अपने परिवारों और समुदायों में किये गए योगदान को पहचानने, सराहने और मनाने का भी अवसर है। यह दिन दुनियाभर में बुजुर्गों की वर्तमान स्थिति के साथ-साथ उनके योगदान एवं समस्याओं को प्रतिबिंबित करने के लिए मनाया जाता है।

प्रश्न उठता है कि दुनियाभर में वरिष्ठ नागरिक दिवस मनाने की आवश्यकता क्यों हुई? दरअसल, वृद्धजन स्वयं को समाज में एक तरह से निष्प्रयोज्य समझे जाने के कारण सर्वाधिक दुखी रहते हैं। संयुक्त राष्ट्र ने विश्व में बुजुर्गों के प्रति हो रहे दुर्व्यवहार और अन्याय को समाप्त करने और नागरिकों के मध्य इस संबंध में जागरूकता के उद्देश्य से ही अंतरराष्ट्रीय वरिष्ठ नागरिक दिवस मनाने का निर्णय लिया।

कटु सत्य है कि वृद्धावस्था जीवन का अनिवार्य सत्य है। जो आज युवा है, वह कल बूढ़ा भी होगा ही। समस्या की शुरुआत तब होती है, जब युवा पीढ़ी यह भूलकर अपने बुजुर्गों को उपेक्षा की निगाह से देखने लगती है और उन्हें अपने बुढ़ापे और अकेलेपन से लड़ने के लिए असहाय छोड़ देती है। आज वृद्धों को अकेलापन, परिवार के सदस्यों द्वारा उपेक्षा, तिरस्कार, कटुक्तियाँ, घर से निकाले जाने का भय या एक छत की तलाश में इधर-उधर भटकने का गम हरदम सालता रहता है। वृद्धों को लेकर जो गंभीर समस्याएँ आज पैदा हुई हैं, वह अचानक ही नहीं हुई, बल्कि उपभोक्तावादी संस्कृति तथा महानगरीय अधुनातन बोध के तहत बदलते सामाजिक मूल्यों, नई पीढ़ी की सोच में परिवर्तन, बढ़ती महँगाई और एकल परिवार प्रवृत्ति के पनपने के कारण साल-दर-साल बढ़ती गई हैं।

दुनिया तेजी से बूढ़ी हो रही है। सन् 2025 तक, वैश्विक स्तर पर 60 वर्ष और उससे अधिक आयु के 14 लाख से अधिक लोग थे। 2050 तक, यह संख्या दोगुनी होकर 21 लाख तक पहुँचने का अनुमान है, जिनमें से 42.6 करोड़ लोग 80 वर्ष या उससे अधिक आयु के होंगे। एक अनुमान के अनुसार भारत में, सन् 2031 तक (60 वर्ष से अधिक) वृद्ध आबादी 19.3 करोड़ और 2050 तक 30.0 करोड़ से अधिक हो जाएगी। यानी, लगभग हर पाँच में से एक भारतीय बुजुर्ग होगा। चिंताजनक बात यह है कि भारत के 40% से अधिक बुजुर्ग सबसे गरीब आर्थिक वर्ग में आते हैं और 18.7% बिना किसी आय के जीवनयापन करते हैं।

वरिष्ठ नागरिकों (65 वर्ष और उससे अधिक आयु) की सबसे बड़ी आबादी वाले शीर्ष पाँच देश हैं—चीन (33 करोड़), भारत (15 करोड़), संयुक्त राज्य अमेरिका (पाँच करोड़), जापान (चार करोड़) और रूस (चार करोड़)। जापान में जीवन-प्रत्याशा विश्व स्तर

पर सबसे अधिक है और इसकी जनसंख्या में वरिष्ठ नागरिकों का दूसरा सबसे बड़ा हिस्सा (30%) है। रूस की बढ़ती वृद्ध आबादी अपने विशाल भूगोल और स्वास्थ्य सेवा तक पहुँच में क्षेत्रीय असमानताओं के कारण अनूठी चुनौतियाँ पेश करती है। बहरहाल, अंत और शुरुआत, आशा और निराशा की दो दृष्टियों के बीच बुढ़ापा एक सच्चाई है; और इस नाते, बुजुर्ग पीढ़ी को सँभाले रखने के लिए समाज के भीतर जिम्मेदारी वाले एक भाव की भी जरूरत है। हमें यह समझना होगा कि अगर समाज के इस अनुभवी स्तंभ को यूँ ही नजरअंदाज किया जाता रहा तो हम उस अनुभव से भी दूर हो जाएँगे, जो इनलोगों के पास है। अंतरराष्ट्रीय वरिष्ठ नागरिक दिवस मनाना तभी सार्थक होगा जब हम अपने वृद्धों को परिवार में सम्मानजनक जीवन देंगे, उनके शुभ एवं मंगल की कामना करेंगे।

सफलता की कोई उम्र नहीं

समाजविज्ञानियों की एक शोध के अनुसार, जिंदगी 60 साल की उम्र के बाद भी सफलता और बदलाव के नए मौके देती है। सुकरात से लेकर डेम जूडी डेंच, सर रानुल्फ फिएंस, डेनियल डिफो, कर्नल हारलैंड सैंडर्स, कार्ल लेजरफेल्ड आदि कुछ ऐसे ही नाम हैं, जिन्हें अपने-अपने क्षेत्रों में 60 साल की उम्र के बाद ही सफलता और यश मिला। सुकरात को उनके दार्शनिक विचारों की मान्यता उनके वृद्धावस्था में ही मिली। हॉलीवुड की प्रसिद्ध अभिनेत्री डेम जूडी डेंच को 60 साल के बाद ही फिल्मों में पहला काम मिला। डेनियल डिफो ने भी अपनी अमर कृति 60 साल की उम्र के बाद ही लिखी। सर रानुल्फ फिएंस ने 65 साल की उम्र में एवरेस्ट की चढ़ाई की और 71 साल की उम्र में सहारा के रेगिस्तान में संपन्न 'अल्ट्रा मैराथन' दौड़ में भाग लिया। दुनिया के महान भौतिक वैज्ञानिक विलियम क्रूक्स ने भी 68 साल की उम्र में रेडियोएक्टिविटी पर अपना शोध पूरा किया। कार्ल लेजरफेल्ड को भी फैशन की दुनिया में 82 साल की उम्र में सफलता मिली।

21 प्रतिशत होंगे बुजुर्ग

जनगणना आकलन के अनुसार, विश्व में पिछली एक सदी में बुजुर्गों की संख्या में सर्वाधिक वृद्धि देखी गई है। भारत में 1951-60 के बीच जीवन-प्रत्याशा जन्म के समय 42 वर्ष थी, वह 2011-16 के बीच बढ़कर 67 वर्ष हो गई है। यही नहीं, महिलाओं की जीवन-प्रत्याशा में उल्लेखनीय वृद्धि देखी गई है। यह 1986-90 में 58 वर्ष थी, जो 2011-16 में 69 वर्ष पायी गई। 1901 में भारत में 60 वर्ष से अधिक उम्र के कुल 1.2 करोड़ लोग थे, जिनकी संख्या 1951 में दो करोड़ और 2013 में यह आँकड़ा दस करोड़ तक हो गया। नीति आयोग की रिपोर्ट और संयुक्त राष्ट्र के 'वर्ल्ड पॉपुलेशन प्रॉस्पेक्ट्स 2024' के मध्यम-अनुमानों के अनुसार, विश्व और भारत में वरिष्ठ नागरिकों (60 वर्ष और उससे अधिक आयु) की जनसंख्या में तीव्र वृद्धि देखी जा रही है।

संयुक्त राष्ट्र (UN) और विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के हालिया आँकड़ों के आधार पर :

विश्व में वरिष्ठ नागरिक जनसंख्या

सन् 2024-26 में लगभग 1.2-1.3 अरब, जो कुल वैश्विक आबादी की लगभग 13-14%, सन् 2030 तक लगभग 1.4 अरब कुल वैश्विक आबादी की लगभग 16.5% (हर छह में से एक व्यक्ति बुजुर्ग), सन् 2050 तक लगभग 2.1 अरब कुल वैश्विक आबादी की लगभग 22%।

भारत में वरिष्ठ नागरिक जनसंख्या

भारत में 'डेमोग्राफिक डिविडेंड' (युवा आबादी) के बावजूद, बुजुर्गों की संख्या दुनिया में दूसरी सबसे बड़ी है और यह तेजी से बढ़ रही है। यह सन् 2024-26 में लगभग 15.6-16.5 करोड़ (कुल आबादी का लगभग 11%), सन् 2030 में लगभग 19-20 करोड़ (कुल आबादी का लगभग 13.1%) सन् 2050 तक लगभग 34.6-35 करोड़ (कुल आबादी का लगभग 20.8%)। 2050 तक भारत की कुल आबादी का 21 प्रतिशत वृद्धों का होगा, अर्थात हर पाँच में से एक व्यक्ति वरिष्ठ नागरिक होगा।

दूसरा सबसे बड़ी बुजुर्ग आबादी वाला देश

जनसांख्यिकीय बदलाव : 2050 तक भारत में बुजुर्गों की संख्या बच्चों (0-14 वर्ष) की संख्या से अधिक होने का अनुमान है।

वैश्विक स्थिति : 2020 और 2050 के बीच, 60 वर्ष से अधिक आयु के लोगों की वैश्कि हिस्सेदारी लगभग दोगुनी हो जाएगी।

भारत का स्थान : वर्तमान में भारत दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी बुजुर्ग आबादी वाला देश है (चीन के बाद), लेकिन 2050 तक भारत में यह वृद्धि दर और भी अधिक होने की संभावना है।

झंडा अंगीकरण दिवस
तिरंगे की गौरवगाथा

भारत का राष्ट्रीय ध्वज केवल तीन रंगों का कपड़ा नहीं, बल्कि करोड़ों भारतीयों की आस्था, संघर्ष, बलिदान और स्वाभिमान का प्रतीक है। हर वर्ष 22 जुलाई को 'झंडा अंगीकरण दिवस' मनाया जाता है, क्योंकि इसी दिन वर्ष 1947 में संविधान सभा ने तिरंगे को स्वतंत्र भारत के राष्ट्रीय ध्वज के रूप में स्वीकार किया था। यह दिन हमें उस लंबी ऐतिहासिक यात्रा की याद दिलाता है, जिसमें भारत ने अलग-अलग प्रतीकों, आंदोलनों और बलिदानों के माध्यम से अपने राष्ट्रीय ध्वज को आकार दिया।

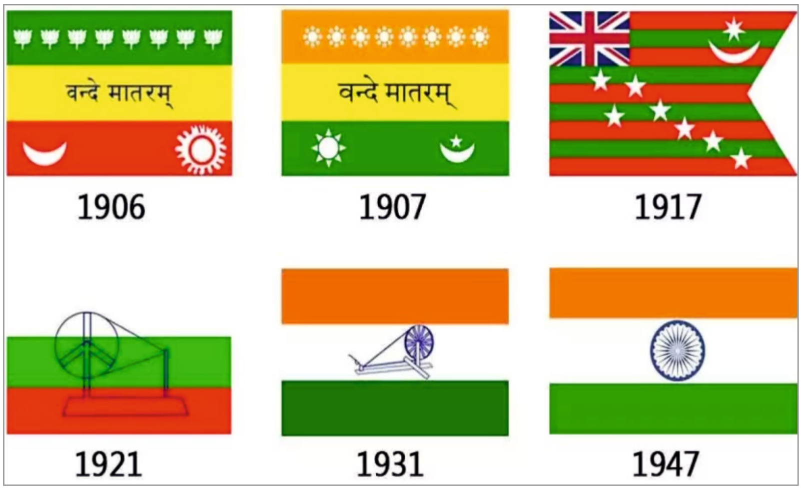

भारत के इतिहास में लंबे समय तक कोई एक राष्ट्रीय ध्वज नहीं था। अलग-अलग राजाओं, रियासतों और साम्राज्यों के अपने-अपने ध्वज थे। शिवाजी का भगवा ध्वज, राणा प्रताप का चंगी, मुगलों का आलम और रानी लक्ष्मीबाई का हनुमान ध्वज—ये सब उनकी अपनी-अपनी वीरता, गौरव और सत्ता के प्रतीक थे, लेकिन पूरे भारत को एक सूत्र में बाँधने वाला कोई साझा झंडा नहीं था। अंग्रेज भारत पर यूनियन जैक के नीचे शासन कर रहे थे और धीरे-धीरे भारतीयों में यह भावना जागी कि स्वतंत्र राष्ट्र का अपना ध्वज होना चाहिए।

1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम ने पहली बार राष्ट्रीय एकता की चेतना को बल दिया। बहादुरशाह जफर के नेतृत्व में क्रांतिकारियों ने हरे और सुनहरे रंग के ध्वज को विद्रोह का प्रतीक बनाया। मेरठ से उठी क्रांति की चिनगारी दिल्ली पहुँची और लाल किले पर स्वतंत्रता का झंडा फहराने का प्रयास हुआ। उस दौर में एक गीत भी गूँजा—

हिंदू, मुसलमान, सिख हमारा,
भाई-भाई प्यारा।
यह है झंडा आजादी का,
इसे सलाम हमारा।

यद्यपि, 1857 का विद्रोह असफल रहा, लेकिन इसने राष्ट्रीय ध्वज की आवश्यकता को भारतीय मानस में स्थायी रूप से स्थापित कर दिया।

20वीं सदी की शुरुआत में स्वदेशी आंदोलन के दौरान राष्ट्रीय ध्वज की कल्पना और अधिक स्पष्ट हुई। स्वामी विवेकानंद की शिष्या सिस्टर निवेदिता ने भारत के लिए एक ध्वज तैयार किया, जिसमें वज्र का चिह्न और 'वंदे मातरम्' अंकित था। इसके बाद 1906 में कलकत्ता में पहली बार एक तिरंगा ध्वज फहराया गया, जिसमें हरा, पीला और लाल रंग थे। यह ध्वज बंग-भंग विरोधी आंदोलन का प्रतीक बना और 'वंदे मातरम्' राष्ट्रीय चेतना का उद्घोष बन गया।

आगे चलकर पिंगली वेंकैया ने राष्ट्रध्वज के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। महात्मा गांधी ने उनके डिजाइन में चरखे का प्रतीक जोड़कर उसे स्वावलंबन और आत्मनिर्भरता का संदेश दिया। गांधी जी का मानना था कि ध्वज भारत की सभी

दीपक कुमार भारद्वाज

शिक्षा : एम.फिल. (पत्रकारिता एवं जनसंचार)

कार्यक्षेत्र : 2014 से 2022 तक हिंदुस्तान, दैनिक जागरण, अमर उजाला राष्ट्रीय समाचार पत्रों में संवाददाता।

संप्रति : नवंबर 2022 से संस्कृति मंत्रालय के स्वायत्त संस्थान, 'इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केंद्र' में सोशल मीडिया मैनेजर के रूप में कार्यरत।

संपर्क : मोबाइल— 8273325539
ईमेल— deepakprofessional2@gmail.com

आस्थाओं और समुदायों का प्रतिनिधित्व करे। इसी सोच के साथ सफेद, हरा और लाल रंगों वाला ध्वज सामने आया, जो बाद में केसरिया, सफेद और हरे रंग के रूप में विकसित हुआ।

22 जुलाई, 1947 को संविधान सभा ने अंतिम रूप से तिरंगे को राष्ट्रीय ध्वज के रूप में स्वीकार किया। इसमें ऊपर केसरिया, बीच में सफेद और नीचे हरा रंग रखा गया तथा मध्य में अशोक चक्र स्थापित किया गया। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इसे प्रस्तुत करते हुए कहा था कि यह ध्वज केवल स्वतंत्रता का प्रतीक नहीं, बल्कि भारत के संघर्षों, आशाओं और भविष्य की आकांक्षाओं का प्रतिनिधि है।

तिरंगे का प्रत्येक रंग एक संदेश देता है—

केसरिया त्याग, साहस और बलिदान का प्रतीक है।
सफेद सत्य, शांति और पवित्रता का संदेश देता है।
हरा समृद्धि, विकास और प्रकृति से जुड़ाव को दर्शाता है।
बीच का अशोक चक्र निरंतर प्रगति, गति और धर्म के मार्ग का प्रतीक है।

आज जब तिरंगा सीमा पर लहराता है, खेल के मैदानों में ऊँचा उठता है या किसी सरकारी भवन पर गर्व से फहराता है, तब उसमें केवल रंग नहीं, बल्कि स्वतंत्रता सेनानियों का संघर्ष, क्रांतिकारियों का साहस और देशवासियों की भावनाएँ दिखाई देती हैं।

झंडा अंगीकरण दिवस हमें याद दिलाता है कि यह तिरंगा बड़ी कुर्बानियों के बाद मिला है। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम इसकी गरिमा, सम्मान और मूल्यों की रक्षा करें। तिरंगा केवल राष्ट्रध्वज नहीं, बल्कि भारत की आत्मा है—एक ऐसा प्रतीक, जो विविधताओं से भरे इस देश को एक सूत्र में बाँधता है।

रामायण-महाभारत से स्वतंत्र भारत तक

रामायण और महाभारत केवल धार्मिक ग्रंथ नहीं, बल्कि प्राचीन भारतीय समाज और संस्कृति के दर्पण भी हैं। इन महाकाव्यों में ध्वजों का विशेष महत्व बताया गया है। उस समय प्रत्येक राजा, योद्धा और सेना का अपना अलग ध्वज होता था, जो उसकी पहचान, शक्ति, विश्वास और सम्मान का प्रतीक माना जाता था।

महाभारत में अर्जुन के रथ पर 'कपिध्वज' लगा था, जिस पर भगवान हनुमान का चित्र अंकित था। युद्ध से पहले अर्जुन अपने ध्वज को ऊँचा उठाकर सेना का उत्साह बढ़ाते थे। यह केवल एक प्रतीक नहीं था, बल्कि साहस और आत्मविश्वास का स्रोत भी था। इसी प्रकार, भीम, नकुल, सहदेव और अन्य योद्धाओं के भी अलग-अलग ध्वज थे, जिन पर विशेष चिह्न बने होते थे।

रामायण में रावण के ध्वज का उल्लेख 'कपाल-ध्वज' के रूप में मिलता है। उसके ध्वज पर मानव-खोपड़ी का चिह्न अंकित था, जो उसकी शक्ति और भय का प्रतीक माना जाता था। यह दर्शाता है कि प्राचीन भारत में ध्वज केवल सजावट का साधन नहीं, बल्कि मनोवैज्ञानिक शक्ति का भी माध्यम थे।

युद्ध में ध्वज का महत्व

प्राचीन काल में युद्ध के दौरान शत्रु के ध्वज को गिराना उसकी हार का संकेत माना जाता था। अर्जुन ने कर्ण का ध्वज गिराया था और भगवान राम ने रावण का ध्वज नष्ट किया था। किसी योद्धा का ध्वज टूट जाना उसके सम्मान को ठेस पहुँचाने जैसा माना जाता था। युद्धभूमि में ध्वज सेना को दिशा देने का कार्य भी करते थे। विशाल युद्धक्षेत्र में सैनिक अपने-अपने ध्वज को देखकर अपनी सेना की पहचान करते थे। ध्वज सैनिकों के लिए मनोबल और प्रेरणा का स्रोत थे।

1857 के संग्राम का बहादुरशाह जफर का ध्वज

उत्सवों और राजकीय समारोहों में ध्वज

केवल युद्ध ही नहीं, बल्कि उत्सवों और राजकीय समारोहों में भी ध्वजों का प्रयोग होता था। महलों, मंदिरों और सार्वजनिक स्थलों पर ध्वज लगाए जाते थे। आज स्वतंत्रता दिवस और गणतंत्र दिवस पर घरों में तिरंगा फहराने की परंपरा उसी प्राचीन भारतीय संस्कृति की आधुनिक अभिव्यक्ति है।

स्वतंत्र भारत के तिरंगे का जन्म

भारत के राष्ट्रीय ध्वज की यात्रा भी अत्यंत प्रेरणादायक रही है। 22 जुलाई, 1947 को संविधान सभा में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने तिरंगे को राष्ट्रीय ध्वज के रूप में स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा। इसके बाद तिरंगा स्वतंत्र भारत की पहचान बन गया। ध्वज समिति ने यह सुनिश्चित किया कि भारत का राष्ट्रीय ध्वज सभी समुदायों और वर्गों के लिए स्वीकार्य हो। इसलिए तिरंगे में ऐसे रंग और प्रतीक चुने गए, जो पूरे राष्ट्र की भावना को दर्शाते हों।

तिरंगे और खादी का संबंध

राष्ट्रीय ध्वज के निर्माण के लिए हाथ से काती और हाथ से बुनी खादी को अनिवार्य माना गया था। यह निर्णय महात्मा गांधी के स्वदेशी आंदोलन की भावना से जुड़ा हुआ था। तिरंगे के निर्माण में सूती, ऊनी और रेशमी खादी का उपयोग किया जा सकता था, लेकिन सभी

कपड़े हाथ से बने होने चाहिए। यहाँ तक कि तिरंगे की सिलाई में उपयोग होने वाले धागे भी खादी के ही बनाए जाने का नियम था। यह केवल वस्त्र का चयन नहीं था, बल्कि आत्मनिर्भर भारत की अवधारणा का प्रतीक था।

तिरंगे के रंगों का वैज्ञानिक निर्धारण

राष्ट्रीय ध्वज के रंगों को लेकर भी अत्यंत सावधानी बरती गई। भारतीय मानक संस्थान (ISI) ने तिरंगे के रंगों की वैज्ञानिक माप तय की। 'India saffron' और 'India Green' जैसे आधिकारिक रंग निर्धारित किये गए। इन रंगों की 'Trichromatic Value' और 'Brightness Percentage' तक का उल्लेख है। इसका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना था कि देश में कहीं भी बनाया गया तिरंगा एक समान दिखाई दे।

तिरंगे के लिए बने सरकारी मानक

1951 में पहली बार भारतीय मानक संस्थान ने राष्ट्रीय ध्वज के आधिकारिक मानक निर्धारित किए। बाद में, 1964 और 1968 में इनमें संशोधन किये गए, ताकि ध्वज के आकार और निर्माण-प्रणाली को आधुनिक बनाया जा सके। उस समय राष्ट्रीय ध्वज के निर्माण पर निजी कंपनियों को अनुमति नहीं थी। मुख्य रूप से शाहजहाँपुर ऑर्डिनेंस क्लॉथ फैक्ट्री और खादी ग्रामोद्योग द्वारा तिरंगे का निर्माण किया जाता था।

तिरंगा : केवल ध्वज नहीं, राष्ट्रीय चेतना

तिरंगा भारत की आत्मा का प्रतीक है। इसमें स्वतंत्रता संग्राम की पीड़ा भी है और विजय का गौरव भी। यह हमें उन लाखों लोगों की याद दिलाता है, जिन्होंने देश के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया। जब कोई खिलाड़ी अंतरराष्ट्रीय मंच पर तिरंगा लेकर खड़ा होता है, जब सैनिक सीमा पर तिरंगे को सलामी देता है, या जब कोई नागरिक अपने घर पर तिरंगा फहराता है, तब यह केवल एक ध्वज नहीं रहता—यह पूरे राष्ट्र की भावनाओं का प्रतीक बन जाता है।

वर्ष 1947 से अब तक राष्ट्रीय ध्वज से जुड़े प्रमुख नियम और बदलाव

1. 22 जुलाई, 1947—तिरंगा राष्ट्रीय ध्वज बना : संविधान सभा ने 22 जुलाई, 1947 को पंडित जवाहरलाल नेहरू के प्रस्ताव पर तिरंगे को भारत के राष्ट्रीय ध्वज के रूप में स्वीकार किया। इसी दिन यह तय हुआ कि ध्वज में ऊपर केसरिया, बीच में सफेद और नीचे हरा रंग होगा तथा बीच में अशोक चक्र रहेगा।

2. प्रारंभिक नियम—केवल खादी का तिरंगा : स्वतंत्रता के बाद सबसे महत्वपूर्ण नियम यह बनाया गया कि राष्ट्रीय ध्वज केवल हाथ से काती और हाथ से बुनी खादी से ही बनाया जाएगा। यह महात्मा गांधी के स्वदेशी आंदोलन और आत्मनिर्भरता की भावना से जुड़ा था। यह भी तय किया गया कि ध्वज सूती, रेशमी या ऊनी खादी का हो सकता है। सिलाई के धागे भी खादी के ही होंगे। अशोक चक्र दोनों तरफ स्पष्ट दिखाई देना चाहिए।

3. 1951 पहली आधिकारिक तकनीकी (Specification) : 1951 में भारतीय मानक संस्थान (अब BIS) ने पहली बार राष्ट्रीय ध्वज की आधिकारिक specifications जारी कीं। इसमें तय किया गया कि तिरंगे का अनुपात 3:2 होगा। रंगों की वैज्ञानिक माप निर्धारित होगी। अशोक चक्र में 24 तीलियाँ होंगी। रंगों की Brightness और Shade तय होगी।

4. 1964 और 1968 संशोधन : 1964 और फिर 1968 में ध्वज के निर्माण और माप संबंधी नियमों में संशोधन किये गए। इन संशोधनों में मीट्रिक प्रणाली लागू की गई। अलग-अलग आकारों के मानक तय किये गए। सरकारी उपयोग के लिए विशेष आकार निर्धारित हुए।

5. 1971 में राष्ट्रीय सम्मान अपमान निवारण अधिनियम लागू किया गया। इसके अनुसार, तिरंगे का अपमान अपराध माना गया। ध्वज को जमीन पर गिराना, फाड़ना या जलाना दंडनीय

हुआ। ध्वज का उपयोग अपमानजनक विज्ञापन या वस्तुओं में प्रतिबंधित किया गया।

6. पहले आम नागरिकों को रोज तिरंगा फहराने की अनुमति नहीं थी। स्वतंत्रता के बाद लंबे समय तक केवल सरकारी भवन, महत्वपूर्ण संस्थान और विशेष अवसर पर ही तिरंगा फहराया जा सकता था। सामान्य नागरिक केवल स्वतंत्रता दिवस और गणतंत्र दिवस जैसे विशेष दिनों पर ही ध्वज फहरा सकते थे।

7. 26 जनवरी, 2002 को भारतीय झंडा संहिता, 2002 (Flag Code of India, 2002) लागू किया गया। यह राष्ट्रीय ध्वज से जुड़े सभी नियमों का विस्तृत दस्तावेज है। इसके बाद आम नागरिकों को भी सम्मानपूर्वक किसी भी दिन तिरंगा फहराने की अनुमति मिली।

8. नवीन जिंदल केस का बड़ा प्रभाव : उद्योगपति नवीन जिंदल ने अदालत में यह मुद्दा उठाया कि तिरंगा फहराना नागरिक का मौलिक अधिकार होना चाहिए। इसके बाद सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि सम्मानपूर्वक तिरंगा फहराना अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का हिस्सा है। इसी के बाद 2002 में नियम बदले गए।

9. भारतीय झंडा संहिता, 2002 (Flag Code of India, 2002) के मुख्य नियम : तिरंगा हमेशा सम्मानजनक स्थिति में होना चाहिए। जमीन या पानी को स्पर्श नहीं करना चाहिए। किसी व्यक्ति के नीचे या मेज ढकने के लिए उपयोग नहीं होगा। किसी पोशाक के नीचे वाले हिस्से में प्रयोग नहीं किया जा सकता। फटा या गंदा ध्वज नहीं फहराया जाएगा।

10. तिरंगा रात में फहराने की अनुमति : पहले तिरंगा केवल सूर्योदय से सूर्यास्त तक ही फहराया जा सकता था। बाद में नियमों में बदलाव कर रात में भी तिरंगा फहराने की अनुमति दी गई, बशर्ते वह उचित रोशनी में हो।

11. भारतीय झंडा संहिता, 2021 : मशीन से बने और पॉलिस्टर तिरंगे की अनुमति। पहले केवल खादी का तिरंगा मान्य था, लेकिन 2021-22 में नियमों में बदलाव कर मशीन से बने और पॉलिस्टर तिरंगे को भी अनुमति दी गई। सरकार ने कहा कि इससे तिरंगा अधिक लोगों तक पहुँचेगा और 'हर घर तिरंगा' अभियान को बढ़ावा मिलेगा।

12. 'हर घर तिरंगा' अभियान : 2022 में आजादी के 75 वर्ष पूरे होने पर 'हर घर तिरंगा' अभियान शुरू किया गया। इस अभियान के तहत करोड़ों लोगों ने अपने घरों पर तिरंगा फहराया। इससे राष्ट्रीय ध्वज केवल सरकारी प्रतीक नहीं रहा, बल्कि जनभागीदारी का उत्सव बन गया।

13. डिजिटल तिरंगे के नियम : सोशल मीडिया और डिजिटल प्लेटफॉर्म के दौर में सरकार ने यह भी स्पष्ट किया कि डिजिटल तिरंगे का सम्मान बना रहना चाहिए। उसे विकृत या अपमानजनक रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

14. राष्ट्रीय ध्वज के निपटान के नियम : यदि तिरंगा पुराना या क्षतिग्रस्त हो जाए तो उसे सम्मानपूर्वक नष्ट किया जाना चाहिए। आम तौर पर निजी रूप से पूर्ण सम्मान के साथ जलाया जाता है या किसी पवित्र तरीके से नष्ट किया जाता है।

15. आज का तिरंगा राष्ट्र की सामूहिक भावना : आज तिरंगा केवल सरकारी भवनों तक सीमित नहीं है। यह सैनिक की वर्दी में है, खिलाड़ियों की जीत में है, अंतरिक्ष मिशनों में है, और हर भारतीय के हृदय में है।

1947 से अब तक तिरंगे के नियम समय के साथ बदले जरूर हैं, लेकिन एक चीज नहीं बदली, उसके प्रति भारतवासियों का सम्मान, भावनात्मक जुड़ाव और गर्व।

आओ, भारतीय भाषाएँ सीखें

हिंदी	संस्कृत	पंजाबी	उर्दू	कश्मीरी	सिंधी	मराठी	गुजराती	कोंकणी	नेपाली	बांग्ला
चरागाह	**गोचरभूमिः**	**चरांद, चरागाह**	**चरागाह**	**चरागाह, गासु-मॉदान, रख**	**चरागाहु**	**गायरान, कुरण**	**गोचर, गौचर**	**चरवामळ**	**गौचर, गोचर**	**गोचारणभूमि, गोचरभूमि**
चरित्र	चरित्रः, शीलम्	चरित्तर	अख़लाक़, किर्दार	चालुचलन	इख़लाक़ु, चरीत्रु, चरित्रु	चरित्र	चरित्र	चरित्र	चरित्र, चाल-चलन	चरित्र, चाल-चलन, आचरण
चलचित्र	चलचित्रम्	सिनेमा, चलचित्तर	सिनेमा,	सेनिमा	फ़िल्म, पिक्चर	चल चित्र, सिनेमा	चलचित्र, सिनेमा	सिनेमा	बाइस्कोप, सिनेमा, चलचित्र	चलचित्र
चश्मा	उपनेत्रम्	ऐनक, चश्मा	ऐनक	ऑनख	चश्मो, ऐनक	चाळिशी, चश्मा	चश्मा	चश्मो	चस्मा	चशमा
चहकना	कूज्	कूकणा, चहकणा	चहकना	बोल-बोश करुन	चह-चह, करणु, तंवारणु	चिंवाचिंवणें, किलबिल करणे	कलरव करवो	चिवचिवप	चिरबिराउनु, चहचहाउनु	चुँ चुँ शब्द करा, कूजन (पाखीर)
चाँदनी	चंद्रिका, ज्योत्स्ना	चांनणी	चाँदनी	ज़ूनु गाश	चांडोकी	चांदणे	चांदनी	चान्नें	जून, ज्योत्स्ना	चाँदनि, ज्योत्स्ना
चाँदी	रजतम्	चांदी	चाँदी	रवफ	चांदी	चांदी	चांदी	चांदी	चाँदी	रूपा, रूपो
चाबी	कुंजी, कुञ्चिका	चाबी, कुंजी	चाबी	कुंज़	चाबी, कुंजी	चावी, किल्ली	चावी	च़ावी, च़ाई	साँचो	चाबि
चाबुक	कशः	चाबक	चाबुक	कमचि	चहबुक, चाबुक	चाबुक, हंटर	चाबुक	चाबुक	कोर्रा	चाबुक, कोड़ा कशा
चारपाई	खट्वा	मंजी, चारपाई	चारपाई, पलंग	चारपाय	खट, मंजी	बाज, खाट	खाटलो	खाट	खटिया, खाट, चारपाई	खाट, खाटिया, पालंक
चालक	चालकः	चालक	ड्राइवर	चलावनवोल, ड्राइवर	हलाइंदड़ु, ड्राईवरु, डाईवरु	चालक, ड्रायव्हर	चालक	ड्रायवर	ड्राइभर, चालक	चालक, ड्राइभार
चालान (चलान)	अभियोग-पत्रम्	चलान	चालान	चालानु	चालानु	चलान	दंड	तालांव	विवरण पत्र, चलानी	चालान

असमिया	मणिपुरी	ओड़िआ	तेलुगू	तमिल	मलयालम	कन्नड़	डोगरी	संथाली	मैथिली	बोडो
चरणीया-पथार	**शान्जाबुङ्**	**गोचर भूमि, चारण भूमि**	**पच्चिक-बयलु**	**मेय्च्चल निलम**	**मेच्चिल स्थलम्**	**हुल्लुगावलु**	**घलाई, चरांद**	**गाइ टाडि**	**चओर**	**मौसौ गुमग्रा फोथार, बाखा**
आचरण, ब्यबहार	लम्चत्	चरित्र, आचरण ब्यबहार, आचार-ब्यबहार	शीलमु, नडवडि	नडत्तै, गुणादिसयम्	स्वभावम्	नडते, आचरणे	चरित्तर	चुरित	चरित्र, शील, आचरण	आखु, आसार
चिनेमा, चलचित्र	सिनेमा	चलचित्र	सिनिमा	तिरैप्पडम्, सिनिमा	चलच्चित्रम्, सिनिमा	सिनेमा, चलचित्र, चित्रपट	सिनमा	सिनिमा, मुभि	सिनेमा, चलचित्र	सावथुन, सिनेमा
चछमा, बित्वकु	आनोक्,	चशमा	कळ̄ळजोडु	मूक्कु-क्कण्णाडि	मूक्कु-कण्णट	कन्नडक, चाळीसु	ऐनक	चश्मा	चसमा	सस्रमा आइरेस
चिंचिया, कलकला	उचेक्ना, खोङ्बा	पक्षीमाने-आनंदरे-कूजन बा-कलरब करिबा	पक्षुल कल-रवमु	पर्वैयिन्-किरीच्चोलि	चिलक्कुक	चिलिपिल गुट्टुवुदु, कलरव माडुवुदु	चैह्कना (पक्खरुएं दा बोलना)	चेरॉबेरॉ	चहकब	दाउ गाबनाय सि सि, जि जि गाबनाय
जोनाक ज्योत्स्ना	थाबल	चंद्रर-ज्योति, प्रकाश-बा किरण	वैन्नेल	निला	चंद्रिक, निलावुॅ	बैळुदिंगळु	चाननी	तेरदेज्	चाननि	अखाफोरनि सोरां
रूप (धातु)	लुपा	चांदि, रूपा	वेंडि	वैळिळ	वेळ्ळिं	बेळ्ळि	चांदी, रूपा	रूपा, चाँदि	चानी	रुफा
चाबि सँचार काठी	शो	चाबि, कंचि	ताळपुचेवि	चावि	ताक्कोल्	बीगदकै	कूंजी, चाबी	चाबी काठी, कुलुप काठी	कुञ्जी, चाभी	साबि
एचारि, चाबुक	शाजै	चाबुक, कोरड़ा	कोरडा	चाट्टै, चवुक्कु	चाट्ट	चावटि, बारुकोलु	त्रंबड़	चाबुक	कोड़ा, चाभुक	लावथि, साबुक
चारपाइ, खाट, खाटिया	काङ्थोल, मचा	खट, खटिआ	मंचमु	कट्टिल्	कट्टिल्	मंच, होरसु, हग्गद मंच	खट्ट, चारपाई, मंजी	पारकम	खाट	बैसां, खात, सारफाइ
चालक, चलाँओता	गाड़ी थौबा, ड्राइवर	चालक	ड्राइवरु	ओट्टुनर्	ड्राइवर्	ड्राइवर् चालक	डरैवर	डायभर	चालक	सालायग्रा, दैदेनग्रा
चालान	चलान	चालाण	चलान	वळक्कु, तोडरल्	चेल्लान्	रवानगी चीटि	चलान (खानगी)	चालान	चलान	दैथाय हरनाय, सालान

(केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा प्रकाशित भारतीय भाषा कोश से साभार)

आदिवासी समाज का नवजागरण

आदिवासी समाज अब एक बंद समाज नहीं है। यह भी खुल रहा है। कुछ जगहों पर पूरा खुल चुका है, कहीं थोड़ा खुला है और कहीं खुलना शुरू हुआ है। अपवादस्वरूप भारत समेत विश्व के थोड़े से भू-भाग में यह अभी भी बंद या बंद जैसा है, जिसे खोलने की आवश्यकता है। यहाँ यह भी एक कड़वी सच्चाई है कि भारत में सिर्फ अंडमान और निकोबार द्वीप समूह के कुछेक द्वीपों और हिमाचल प्रदेश तथा पूर्वोत्तर भारत के सुदूर क्षेत्रों के कुछेक इलाकों में ही भारतीय आदिवासी या भारतीय अनुसूचित जनजाति समुदाय के लोग विकास से दूर नहीं हैं, बल्कि विकास के बीच पहाड़ी जंगलों में वे रेल, बस और पेयजल आपूर्ति के दर्शन तक से वंचित हैं। इसलिए पराधीन भारत के स्वतंत्रता संग्राम तथा तत्कालीन नवजागरण में जो भूमिका भगवान बिरसा मुंडा और तिलका माँझी ने निभाई, उस स्वदेशी नवजागरण की जरूरत आज स्वतंत्र भारत में वैश्विक और राष्ट्रीय स्तर पर आदिवासी समाज में महसूस की जाती है। आज भारत की प्रथम नागरिक आदिवासी समाज की विदुषी सुश्री द्रौपदी मुर्मू हैं, जो हर आदिवासी के लिए गर्व की बात है, लेकिन यह सिर्फ गर्व की बात न होकर संपूर्ण भारतीय आदिवासी समाज के लिए प्रेरणा की बात भी होनी चाहिए। साथ ही, आदिवासी समाज के लिए आधुनिक नवजागरण का नया आधार बनना चाहिए, ताकि आदिवासी समाज के युवा न सिर्फ झारखंड, छत्तीसगढ़, ओडिशा तथा पूर्वोत्तर के कुछेक राज्यों की मुख्य धारा में प्रथम पंक्ति में दिखाई दें, बल्कि देश के अन्य राज्यों में और राष्ट्रीय स्तर पर भी चिह्नित किए जा सकें। इसके लिए आधुनिक भारत में आदिवासी समाज के लिए आधुनिक नवजागरण की आवश्यकता है, ताकि सन् 2047 ईसवी में विकसित भारत में विकसित आदिवासी समाज का भी दर्शन सुलभ हो सके।

सन् 1986 में जब नवभारत टाइम्स के प्रधान संपादक राजेंद्र माथुर और कार्यकारी संपादक सुरेंद्र प्रताप सिंह के नेतृत्व में पटना संस्करण का श्रीगणेश हुआ और दीनानाथ मिश्र पटना नवभारत टाइम्स के संस्थापक स्थानीय संपादक बनाये गए, तो वहाँ जाने-अनजाने सामाजिक जातीय संतुलन का सह-अस्तित्व दिखाई पड़ा। इंद्रजीत, नवेंदु, उर्मिलेश, नीलाभ जैसे पत्रकारों के संग गंगा प्रसाद और प्रबल महतो भी संयुक्त बिहार

हरेंद्र प्रताप सिंह

जन्म : 01 नवंबर, 1965

शिक्षा : एम.एससी. (प्राणिशास्त्र), पोस्ट एम.ए. (जनसंचार एवं पत्रकारिता), एम.फिल. (हिंदी)। संस्कृत, उर्दू एवं रूसी भाषा का विशेष अध्ययन।

कार्य क्षेत्र : मीडिया-लेखन में 47 वर्ष का अनुभव, 10 से अधिक वर्ष कला जगत में कार्यानुभव, लगभग 25 लघु डॉक्यूमेंट्री फिल्मों का निर्देशन-निर्माण। टेलीफिल्म 'शक' में अभिनय। भारत सरकार के सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम मंत्रालय में संयुक्त निदेशक के रूप में कार्यानुभव तथा वर्तमान में डिजिटल मीडिया में अतिथि-संपादक (1979-2026)

प्रकाशन : लगभग 10 पुस्तकें ('ग़दर के 150 साल', 'गणकाव्य', 'राम सब के हैं', 'सबका चाही दिल्ली' इत्यादि के अतिरिक्त, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में 5,000 से अधिक लेख/विशेष रिपोर्ट प्रकाशित।

संपर्क : मोबाइल– 9871588778

ई-मेल– harendrapratap.media@gmail.com

की पत्रकारिता में तथा उस बहाने राष्ट्रीय हिंदी पत्रकारिता की प्रथम पंक्ति में शामिल थे। यही कारण है कि तत्कालीन नवभारत टाइम्स में अनुसूचित जनजाति, अनुसूचित जाति, पिछड़ा वर्ग, अन्य पिछड़ा वर्ग, आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग, सवर्ण वर्ग तथा अल्पसंख्यक वर्ग, यानी सभी वर्गों की पत्रकारिता की झलक मिलती रही। नवभारत टाइम्स ने तब नरसंहार और पिछड़ेपन को कभी जातीय चश्मे से नहीं देखा, बल्कि उसे ज्वलंत समस्या के रूप में रेखांकित किया और तत्कालीन समाज को इसके समाधान के लिए जागृत किया।

बिहार से अलग होकर जब एक अलग राज्य झारखंड तथा मध्य प्रदेश से अलग होकर जब एक अलग राज्य छत्तीसगढ़ बना, तो न

सिर्फ आदिवासी राजनीतिक शक्तियों का तेजी से विकास हुआ, बल्कि आम आदिवासी भी डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक, शिक्षक तथा नीति-निर्माता बनने के सपने देखने लगे। कुछ हद तक यह फलीभूत भी हुआ। अब यह और फलीभूत हो सकता है। इसका सबसे बड़ा कारण है कि भारत सरकार ने हाल ही में नक्सलियों की समानांतर सरकार का लगभग सफाया कर दिया है। आदिवासी बहुल इलाकों के विकास में अनेक रोड़े थे और परिणामस्वरूप केंद्र सरकार तथा राज्य सरकार की अनेक योजनाएँ सुदूर गाँव, पंचायत और जंगल तक नहीं पहुँच पाती थीं। अब विकास का नया अध्याय जोर-शोर से आरंभ किया जा सकता है तथा सफलता की अनेक सरकारी गाथाएँ आदिवासी समाज में भी रची जा सकती हैं। इसके साथ ही आदिवासी समाज में राजनीतिक तथा सामाजिक जागृति भी पहले की अपेक्षा अब अधिक देखने को मिल रही हैं, जो संपूर्ण आदिवासी समाज के सकारात्मक बदलाव का शुभ संकेत दे रही है। दरअसल, आदिवासी समाज में भारतीय शिक्षण-पद्धति, यानी शिक्षा के देसी संस्करण को तेजी से अपनाने और आत्मसात करने की आवश्यकता है, ताकि वे समाज की मुख्य धारा में अन्य महत्वपूर्ण पदों पर भी सुशोभित होकर सफलता की नई गाथा लिख सकें।

आदिवासियों का एक पुराना क्षेत्र है, जिसमें लंबे समय से उनका राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर पर दबदबा रहा है। वह क्षेत्र है—खेलकूद। खेलों में विशेष रूप से फुटबॉल, हॉकी, एथलेटिक्स, तीरंदाजी इत्यादि में आदिवासी किशोर, युवा बहुत आगे रह चुके हैं। इस क्षेत्र में उन्हें फिर से अपनी राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय पहचान को बनाने और कायम रखने की आवश्यकता है। इसके लिए सरकारी-गैर-सरकारी स्तरों पर अभियान बनाकर लक्ष्य को हासिल करने की जरूरत है। आदिवासी समाज का एक और अतुलनीय विशाल क्षेत्र है। वह है भारतीय संस्कृति की विविधता। वहाँ सिर्फ करमा और सरहूल ही नहीं, बल्कि सैकड़ों किस्म के पर्व, त्योहार, रस्म, जीवन-पद्धति पूरे साल प्रकृति तथा मानवता का शृंगार करते हैं। आदिवासी संस्कृति वैश्विक स्तर पर तो अद्वितीय है ही, भारतीय संदर्भ में भी उल्लेखनीय एवं अनुकरणीय हैं। जंगल, खनिज, जल, मानवता, सह-अस्तित्व, पशु-पक्षी समेत संपूर्ण प्रकृति की रक्षा में, जो योगदान संपूर्ण विश्व और संपूर्ण भारत में एक-एक आदिवासी का है, वह अन्य किसी समुदाय या समाज में दुर्लभ है। आदिवासी सिर्फ प्रथम सभ्य मानव समुदाय ही नहीं हैं, बल्कि धरती के प्रथम कलाकार भी हैं। उनके द्वारा बनाये गए रेखांकन, भित्तिचित्र और अन्य प्राचीन कलाकारी तथा कलात्मक औजार आधुनिक कला और युद्धशास्त्र के आधार हैं।

पिछली सदी में नब्बे के दशक में जब मैं नवभारत टाइम्स में पत्रकार था, तो मुझे बिहार में तत्कालीन मुंगेर जिले में स्थित पहाड़ियों की शृंखला के बीच घने जंगलों में आदिवासियों के बीच जाने का अनोखा अवसर मिला था। संताल परगना तथा छोटानागपुर क्षेत्र से अलग, मैदानी इलाकों में उगी पहाड़ी शृंखला के जंगलों में रह रहे आदिवासियों का जीवन कम चुनौतीपूर्ण नहीं था। आदिवासियों के जीवन में विशेष दिलचस्पी रखने वाले नवभारत टाइम्स के तत्कालीन स्थानीय संपादक अरुण रंजन ने नब्बे के दशक में भूख से कथित रूप से हुई एक आदिवासी की मौत की एक अपुष्ट सूचना की पुष्टि और रिपोर्टिंग के लिए मुझे चकाई क्षेत्र में स्थित चरका पत्थर की पहाड़ियों पर भेजा था। अनेक पहाड़ियों को ट्रेकिंग के सहारे पार कर जब मैं आदिवासियों के एक छोटे समूह में पहुँचा तो पता चला कि प्रखंड मुख्यालय से मात्र चालीस किलोमीटर की दूरी पर स्थित होने के बावजूद उनलोगों ने अपने तब तक के जीवन में न सरकार का नाम सुना था, न देश की आजादी का, न लोकतंत्र का और न कभी किसी सड़क या गली का दर्शन किया था। उनकी स्थिति दयनीय के अर्थ के दायरे से बाहर कहीं अत्यधिक जर्जर थी। इसके बावजूद, उन्होंने मुझे अतिथि मानते हुए भगवान समझा और बकरी का दूध पिलाकर मेरा सत्कार किया। मैंने पूछा, "सरकार से क्या चाहिए?" उत्तर मिला, "कुआँ!" सात दिन तक रिपोर्टिंग करने के बाद मैंने एक रिपोर्ताज लिखा—'अतिथि यहाँ भगवान है और कुआँ कारूँ का खजाना'। इसे पत्रकार गुंजन सिन्हा ने बड़े भव्य तरीके से नवभारत टाइम्स में

प्रकाशित किया था! कहने का मतलब है कि मैदानी इलाकों के पास का क्षेत्र हो या सुदूर अरुणाचल प्रदेश अथवा अंडमान और निकोबार द्वीप समूह के अल्प ज्ञात आदिवासी या भारत के किसी भी भू-भाग के ज्ञात-अज्ञात आदिवासी क्षेत्र, उनकी सुध लेने और उन्हें विकास की राष्ट्रीय धारा में जोड़ने का यह सुनहरा समय है और इसके लिए विकसित हो चुके आदिवासियों के साथ-साथ उन गैर-आदिवासियों को भी आगे आना चाहिए, जो भारत के समावेशी विकास की आस्था में भरोसा रखते हैं। विश्व आदिवासी दिवस के अवसर पर इसका पुनः स्मरण करना तथा इसके लिए पूरे भारत को एकजुट करना इस विशेष दिवस को मनाने का मुख्य प्रयोजन होना चाहिए। ऑस्ट्रेलिया, अफ्रीका, अमेरिका सहित एशिया के अन्य क्षेत्रों में भी आदिवासी समाज को विकास की मुख्य धारा में लाने के लिए भी वैश्विक पहल करने का यह उचित समय है।

नौ अगस्त को हम हर साल 'विश्व आदिवासी दिवस' मनाते हैं। इस अवसर पर सांस्कृतिक कार्यक्रम और वैचारिक संगोष्ठी का आयोजन कर हम रस्म अदायगी कर लेते हैं। महानगरों एवं बड़े नगरों में कार्यरत आदिवासी भाई-बहन इस अवसर पर एकजुट होते हैं और अपना सुख-दुख साझा करते हैं। अब इनमें बदलाव भी दिख रहा है। ऊँचे पदों पर कार्यरत एवं प्रोफेशनल आदिवासी भी अब इसमें शिरकत कर अपने समाज के विकास का संकेत दे रहे हैं। उदाहरण के लिए, दिल्ली में रश्मि दीप्ति एक्का, मौसमी संत्रा, दिव्या बारा इत्यादि तो अपेक्षाकृत छोटे पदों पर कार्यरत हैं, लेकिन अनिता लाकड़ा एन.जी.ओ. एक्सपर्ट के रूप में दिल्ली में अपने समाज को लगातार जागरूक कर रही हैं। जाहिर है कि यह बदलाव की बयार है, जो एक-दो दशक में आदिवासी समाज की तस्वीर को राष्ट्रीय स्तर पर विकसित करने में सफल हो सकती है। हालाँकि, नक्सली आंदोलन के समापन के पश्चात भारत सरकार और राज्य सरकारों की विभिन्न सरकारी योजनाओं को अभियान बनाकर आदिवासी क्षेत्रों में पंचायत स्तर पर शीघ्र लागू कराने की आवश्यकता है। इस मामले में ग्रामीण विकास मंत्रालय, जनजातीय मामलों के मंत्रालय और सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम यानी एम.एस.एम.ई. मंत्रालय को आदिवासी क्षेत्रों में प्राथमिकता के तौर पर शिविर लगाकर लोगों को लाभ और रोजगार दिलाना चाहिए। वैश्विक स्तर पर अलग-अलग देशों की सरकारों और संयुक्त राष्ट्र से जुड़ी विभिन्न एजेंसियों को इस दिशा में गंभीर और प्रभावी होना चाहिए। भारत सहित संपूर्ण विश्व में आदिवासियों के जीवन-स्तर में बुनियादी तौर पर व्यापक सुधार की आवश्यकता है। उनके लिए जल, जंगल और जमीन तो बचाना जरूरी है ही, साथ ही साक्षरता, शिक्षा, स्वास्थ्य, भाषा-संरक्षण, संस्कृति-संरक्षण, शुद्ध पेयजल, संपूर्ण मानव संसाधन विकास, शोषण से मुक्ति, भेदभाव से मुक्ति और संवैधानिक अधिकारों के वास्तविक कार्यान्वयन की आवश्यकता है। इसी से आदिवासी समाज में आधुनिक नवजागरण लाया जा सकता है। आदिवासी समाज की मौलिकता को बचाने के लिए वहाँ पर विशेष रूप से शासन की पंचायत व्यवस्था को सुचारु बनाने की कोशिश करनी चाहिए। आदिवासियों की दृष्टि से प्रमुख राज्यों के साथ-साथ उन राज्यों में भी आदिवासियों पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है, जहाँ अपेक्षाकृत उनकी संख्या कम है या कुछेक जिले में सिमटी हुई है, जैसे—पश्चिम बंगाल, बिहार, महाराष्ट्र इत्यादि।

वैश्विक स्तर पर विश्व आदिवासी दिवस का सबसे अच्छा सदुपयोग यह किया जा सकता है कि विश्व आदिवासी ओलंपिक खेलों का आयोजन किया जाना चाहिए। इसे यदि दो वर्षों में आयोजित किया जाए तो आदिवासी प्रतिभा को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उभरने का सुखद अवसर जल्दी-जल्दी मिलेगा। इसी तरह, भारत जैसे देशों में राष्ट्रीय स्तर पर आदिवासी खेलों का आयोजन किया जाना चाहिए। आदिवासी विद्यार्थियों में विज्ञान को लोकप्रिय बनाने और आपसी प्रतिस्पर्धा बढ़ाने के लिए राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तरों पर ज्ञान ओलंपियाड जैसे आयोजन नियमित अंतराल पर किए जाने चाहिए। आदिवासी कथाओं पर आधारित फिल्मों के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। भारतीय आदिवासी समाज के लिए तात्कालिक तौर पर चार अहम आवश्यकताएँ हैं—ये हैं गरीबी को खत्म करना, शिक्षा के लिए सभी को प्रेरित करना, स्वास्थ्य सुविधाओं का जाल बिछाना और रोजगार को उपलब्ध कराना। इन सब प्रयासों से आदिवासी समाज का आत्मबल तेजी से मजबूत होगा और वे खुद को ठगा हुआ-सा महसूस नहीं करेंगे।

लोकगीतों में गूँजता आत्मीय राग

भारत एक उत्सवधर्मी देश है। यहाँ जन्म से लेकर मृत्यु तक का उत्सव मनाया जाता है। भारतीय परंपरा में जीवन के हर चरण को न केवल स्वीकार किया गया है, बल्कि सोत्साह स्वीकार किया गया है। जन्म से लेकर अंतिम प्रयाण तक की यात्रा में आए हर अध्याय को त्योहार की तरह मनाया जाता है और इनमें व्यक्त जीवन-राग को महसूस किया जाता है। उत्सवधर्मी होने के साथ-साथ हम गीतों के माध्यम से जीवन-दर्शन को व्यक्त करते हैं। इन लोकगीतों में जीवन का आनंद उठाते कितने ही संदेश प्रवाहित होते रहते हैं। 'जीते लकड़ी, मरते लकड़ी, देख तमाशा लकड़ी का...' इस तरह के गीत न केवल मनोरंजक हैं, बल्कि ये हमारी संस्कृति का आईना भी हैं, जिनमें हमारी सांस्कृतिक धरोहर को सहेजा गया है। संबंधों का माधुर्य, सहज हास-परिहास इनका प्राण तत्व है। इनमें ननद-भाभी की नोंक-झोंक है, तो कई महत्वपूर्ण उपदेश भी समाहित हैं। ये गीत किसने लिखे, इनके रचयिता कौन हैं, यह कह पाना कठिन है। अधिकतर लोकगीत अपने अग्रजों से सुने गए और अगली पीढ़ी तक गाए जाते रहे। लोकगीतों का माधुर्य पूरे देश को अपनी मिठास से बाँधता है। इनकी प्रासंगिकता हर काल में अक्षुण्ण बनी रही है। विवाह के समय गाली देकर स्वागत करने के कितने ही गीत देश के हर हिस्से में अपनी तरह से गाए जाते हैं और सभी को भाव-विभोर करते हैं। 'राम जी से पूछे जनकपुर के नारी, बताय द बबुआ लोगवा काहे देत गारी...' इनका स्वरूप स्थान के अनुसार कमोबेश भले ही बदल जाए, मगर इनके भीतर का लावण्य सभी स्थानों पर एक-सा सुखद और चुहल भरा होता है।

उत्तर भारत में जन्म के समय सोहर गाए जाने की परंपरा है। इसमें राम और कृष्ण के जन्म का वर्णन करते हुए भी इन्हें सुंदरता से गूँथा गया है, जो हर काल में लोगों को भीतर तक आह्लादित करते रहते हैं। एक तरह का चुटीलापन भी इन गीतों की खासियत है। जैसे कि जब नई प्रसूता से पूछा जाता है कि क्या सासू माँ को सहायता के लिए बुला लिया जाए, तो वह कहती है कि मुझे तो इतनी सुध ही नहीं कि मैं इस सवाल का जवाब दे सकूँ। मगर जब उससे उसकी माँ को बुलावा भेजने के लिए पूछा जाता है, तब वह हुलसकर हामी भर देती है–

जनमे हो नवल गिरिधारी।
कहो तो धानी तेरी सासू बुला दूँ,
   ना-ना जी, हमें सुधि नाहीं।
कहो तो धानी तेरी अम्मा बुला दूँ,
   हाँ-हाँ जी, अबै सुधि आई।

अलका सिन्हा

जन्म : 09 नवंबर, 1964; भागलपुर, बिहार

शिक्षा : एम.बी.ए., एम.ए., पी.जी.डी.टी., अनुवाद पाठ्यक्रम में प्रशिक्षण

प्रकाशन : उपन्यास–'जी-मेल एक्सप्रेस', कहानी-संग्रह–'सुरक्षित पंखों की उड़ान'; 'मुझसे कैसा नेह'; 'पीपल', 'पुरखे और पुरानी हवेली'; 'खाली कुरसी' (एनबीटी से प्रकाशित) सहित लगभग दस पुस्तकें प्रकाशित।

पुरस्कार एवं सम्मान : हिंदी अकादमी, दिल्ली द्वारा साहित्यिक कृति सम्मान (2002); संसदीय हिंदी परिषद द्वारा राष्ट्रभाषा गौरव सम्मान (2009); 'नयी धारा' पत्रिका द्वारा नयी धारा रचना सम्मान (2024) तथा अंतरराष्ट्रीय वातायन साहित्य सम्मान, लंदन, यूके और इलासा, सिडनी, ऑस्ट्रेलिया द्वारा भाषा एवं साहित्य उत्कृष्टता सम्मान सहित अनेक पुरस्कारों से सम्मानित।

कार्य क्षेत्र : 13 वर्षों तक निरंतर गणतंत्र दिवस परेड के साथ-साथ राष्ट्रीय कार्यक्रमों की रेडियो और टीवी कमेंटेटर के रूप में प्रसिद्धि

संपर्क : मोबाइल– 9910994321
ईमेल– alkasays@gmail.com

ऐसे सवाल और जवाब लोगों में हास्य और उल्लास भर देते हैं और यही कारण है कि ये लोकगीत सदियों से उसी उत्साह से गाए जा रहे हैं। ये गीत समाज को एकजुट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं। इनके शब्द, आंचलिकता के माधुर्य से भरे होते हैं और इनकी लय जीवन की लय को साथ लिये चलती है। भाई-दूज और रक्षाबंधन जैसे त्योहारों पर गाए शुभकामना गीत भाई-बहन के प्रेम को अमर कर देते हैं।

भैया के बाँधे सिर पागड़ी, भौजी के माँग सेनूर,
अँखिया से रहे चाहे दूर हो, जियरा से करिह न दूर...

बेटी की बिदाई के गीत तो मन को इतना विह्वल कर देते हैं कि गाते हुए कंठ अवरुद्ध हो जाता है। लोकजीवन के कितने ही श्रमसाध्य काम का निर्वाह रस-रंग से भरे इन गीतों को गाते हुए सहज ही किया जा सकता है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती है। पहले के समय में जब जाँता पीसने और ढेकी चलाने का काम नित्य की घटना थी, तब ननद-भाभी के बीच कितने ही गुपचुप संवाद इसी क्रम में किए जाते थे और ये संवाद ननद-भाभी के बीच कैसा आत्मीय रंग भर देते थे, इसे आजकल सास-बहू के सीरियलों वाले चैनलों को खास तौर पर समझने की जरूरत है। फिल्मों में भी जहाँ-जहाँ ऐसे गीतों का सहारा लिया गया है, वे लोगों के बीच बेहद चर्चित और लोकप्रिय हुए हैं।

इन गीतों में सामाजिक विषमताओं की ओर दृष्टि ले जाने और उन पर कुठाराघात करने की भी दुर्लभ क्षमता होती है। उदाहरण के लिए, कुछ स्थानों पर यह प्रथा रही है कि पति की असमय मृत्यु होने पर पत्नी का विवाह पति के छोटे भाई से कर दिया जाता है। कई बार छोटा भाई बहुत कम उम्र का होता है, फिर भी, यह प्रथा स्त्री को उसी से विवाह करने के लिए बाध्य कर देती है। इस दर्द को बहुत ही मार्मिक शब्दों में विद्यापति ने लिखा है—'पिया मोरा बालक हम तरुणी गे, कौन तप चुकलौं भेलौं जननी गे...' यानी, पूजा या जप में पता नहीं ऐसी कौन-सी चूक हो गई कि मुझ तरुणी को जिस बालक की माँ होनी चाहिए, उसकी पत्नी बनना पड़ रहा है।

खेतों में काम करते समय चैती और कजरी गाते किसान कैसे इन लोकगीतों के सहारे कड़ी मेहनत का पसीना सुखा लेते हैं, इसे अनुभव ही किया जा सकता है। खेतों में अच्छी फसल के लिए मेघों का निहोरा करना जहाँ जीवन को आशा से भर देता है, वहीं मौसम पर आश्रित रहते किसानों की व्यथा की ओर भी इशारा करता है। पानी में छपछपाती धान की सुनहली बालियाँ जीवन को इंद्रधनुषी रंगों से भर देती हैं और थका हुआ किसान दुगनी मेहनत करने को तत्पर हो उठता है। 'आगे-आगे हल चले, पीछे से किसनमां, खेतवा जाला हो किसनमां'—जैसे शब्दों से उत्तर भारत की दिशाएँ गूँजने लगती हैं तो दक्षिण भारत में ओणम और पोंगल जैसे त्योहारों पर भी ऐसा ही आह्लाद मुखरित होता है। पंजाब में बैसाखी का त्योहार और नई फसल पर गिद्दा करती लड़कियाँ नाज-नखरों के साथ जीवन में रस घोलती हैं, तो तटीय क्षेत्रों में मल्लाह गीत का रंग देखते ही बनता है। यानी जीवन का हर रूप इन गीतों में प्रतिबिंबित होता है और हर मौके को अपनी तरह से अनूठा और यादगार बना देता है। होली पर फाग, रसिया और जोगीरा के तो क्या ही कहने! इनको सुनने के बाद कोई मन उदास रह ही नहीं सकता। सभी मस्ती के रंग में रँग जाते हैं और 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना को चरितार्थ करते हैं।

प्रकृति से हमारा प्रेम भी लोकगीतों ने खूब सहेजा है। तीज पर झूला झूलती महिलाएँ कभी अपने नैहर को याद कर द्रवित हो जाती हैं, तो कभी पिया की याद में ससुराल जाने की राह देखने लगती हैं। विवाह के बाद गौना करने की रस्म पर गाए जाने वाले गीत भी बहुत चुहल से भरे होते हैं। दुल्हन अपना अधिकार जताते हुए नखरे से कहती है—

हम गवनमां नाहीं जइबे से बिना ढोलना

यानी बिना ढोलना के गौना कराने नहीं आना। 'ढोलना' एक तरह का आभूषण होता है, जिसे विवाहिताएँ अपने गले में धारण करती हैं। ऐसे कितने ही शब्द, जो किसी अंचल विशेष का सौंदर्य रहे हैं, आधुनिकता के यज्ञ में वे शब्द होम होते जा रहे हैं। लोकगीतों ने ऐसे खास शब्दों को सहेजने का भी काम बखूबी किया है। कई शब्द तो हमारी बोलचाल से बिलकुल ही गायब हो चुके हैं। अगर इन गीतों को भी भुला दिया गया तो निश्चय ही हम शब्दों की एक ऐसी विरासत से वंचित रह जाएँगे, जो हमारी मिट्टी-पानी से उपजे थे, जिन्हें हमने अपने लोकजीवन के बीच से गढ़ा और जिनमें हमारी संस्कृति साँस लेती है।

इन गीतों को बचाए रखने में महिलाओं का विशेष योगदान रहा है। आधुनिक समय में भी महिलाएँ जब समूह में इन गीतों को अपनी भाषा-बोली में गाती हैं तब न केवल ये हमें आनंदित करती हैं, बल्कि अगली पीढ़ी के लिए इसे संरक्षित भी करती चलती हैं। उत्तर भारत में मनाया जाने वाला आस्था और उपासना का पर्व 'छठ' समूचे अंचल का सामूहिक पर्व होता है। इस व्रत के कठिन नियमों को ध्यान में रखते हुए इसे सामूहिक तौर पर मनाया जाता है। इस नाते समूचे क्षेत्र में सफाई और स्वच्छता का विशेष ध्यान रखा जाता है। महिलाएँ मिलकर रसोई बनाती हैं और इस व्रत में सहयोग करती हैं। इस अवसर पर गाए गीत जीवन को भी आस्था से भर देते हैं।

केलवा के पात से उग हे सुरुज देवा झाँकी-झुकी,
हे करेलां छठ बरतिया से झाँकी-झुकी

अन्नप्राशन और बच्चे की छठी के गीतों में गूँजता जीवन-संगीत जहाँ मन को उल्लसित करता है, वहीं किसी की मृत्यु पर रुदाली द्वारा 'सीतो' गाए जाने का चलन भीतर के अवसाद को धोकर कष्ट को कम करने में बहुत सहायक हो उठता है। स्त्रियाँ प्रायः अपना दुख भीतर ही दबाकर रह जाती हैं, जो उनके लिए मानसिक यातना का कारण बन जाता है। रुदाली का दर्द मन को भीतर तक छू जाता है और कलेजा चीरकर उस दर्द को बाहर निकाल लाता है। देखा जाए तो ये गीत व्यक्ति को मनोवैज्ञानिक रूप से स्वस्थ भी करते चलते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि ये गीत न केवल हमारे मन का संताप हर लेते हैं, बल्कि पूरे समाज को एक परिवार के आत्मीय सूत्र में बाँधने का भी काम करते हैं। कहना न होगा कि लोकगीत भारतीय समाज की आत्मा है। ये मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि हमारी सांस्कृतिक धरोहर हैं। हमारा देश विविधताओं से भरा है, फिर भी लोकगीतों की तान से जुड़कर समूचा भारत एक हो उठता है और व्यक्ति ही नहीं, प्रकृति भी अनूठे सौंदर्य और माधुर्य से जीवंत हो जाती है।

संकल्प की ज्योति
जेठी बाई

जेठी बाई भारतीय इतिहास और लोककथाओं में साहस, बुद्धिमत्ता और नारी सम्मान की प्रतीक मानी जाती हैं। उनके विशेष रूप से गुजरात और दीव क्षेत्र में कथाएँ प्रसिद्ध हैं।

ये उस समय की बात है, जब यूरोप में रोम के पोप की सार्वभौम सत्ता के दिन थे। अब जिसकी सत्ता होती है प्रायः सभी यूरोपीय नरेश पोप का सम्मान करते और उनकी आज्ञाओं का पालन करते थे। ऐसा न

डॉ. रंजना शर्मा

शिक्षा : एम.ए., पी-एच.डी. (संस्कृत) सागर विश्वविद्यालय, ज्योतिष विशारद, संगीत बी. म्यूज.

अभिरुचि : लेखन, संगीत-गायन, वादन, अभिनय, ड्राइंग-पेंटिंग

शिक्षण : सेंट जेवियर्स हाई स्कूल बीएचईएल झाँसी; सेंट मेरी इंटर कॉलेज इलाहाबाद

सम्मान : साहित्य श्री भारती (शब्द साधिका सम्मान), महिला साहित्यिक मंच बेंगलुरु (महिला साहित्य श्री), हिंदी लेखिका संघ (नवलेखन सम्मान), क्षितिज संस्था इंदौर (तुलसी मानस प्रतिष्ठान), अखिल भारतीय साहित्य परिषद भोपाल (बाल साहित्य सम्मान)।

प्रकाशन : 'फंदे' (लघुकथा संग्रह), 'दो आँखें', 'कई हाथ' (काव्य-संग्रह), 'नानी की कहानियाँ' (भाग-1, भाग-2) आदि।

संपर्क : मोबाइल– 8989159519
ईमेल– ranjanasharma50@gmail.com

जेठी बाई का काल्पनिक चित्र

करने पर बड़ा भय रहता था कि पोप की सेना उन्हें पदच्युत अर्थात पद से हटा देगी और जनता धर्मगुरु का ही साथ देगी। पोप ने आदेश दे रखा था कि हमारे सभी शासित प्रदेश में ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार किया जाए।

इटली के धार्मिक गिरजाघरों में धर्मप्रचारकों को शिक्षित किया जाता था। उन्हें रेवरेंड, बिशप आदि विभिन्न उपाधियों से विभूषित किया जाता था। ये धर्मप्रचारक येन-केन-प्रकारेण, यहाँ तक कि अनेक प्रकार के अत्याचार करके दूसरे धर्मावलंबियों को ईसाई बनाते थे। इनको 'जेस्युइट' कहा जाता था। ये अकेले मैदान में नहीं उतरते थे, बल्कि इनके साथ अविवाहित धर्मप्रचारिकाएँ भी होती थी, जिन्हें 'नन्स' कहा जाता था।

भारत में जहाँ कहीं भी पुर्तगाली शासन हुआ, वहाँ ये ईसाई धर्म प्रचारक पहुँच जाते थे और जेस्युइट और नन्स स्थानीय शासकों की सहायता से देसी प्रजा पर अमानुषिक अत्याचार करते थे। अनेक पैशाचिक यंत्रणाओं के द्वारा वे दूसरे धर्म के लोगों को ईसाई बनने को बाध्य करते थे। कहा तो यहाँ तक जाता है कि पुर्तगाली शासन के समय वहाँ एक कठोर नियम था—यदि किसी हिंदू परिवार का मुखिया बिना उत्तराधिकारी के मर जाता था तो उसकी संपत्ति को शासन अपने अधिकार में ले लेता था और परिवार के बच्चों को ईसाई बनाने का प्रयास करता था।

काठियावाड़ में भी पुर्तगाल का छोटा-सा राज्य था। उस समय दीवनगर प्रमुख बंदरगाह एवं उद्योग का केंद्र था। हाथी के दाँत आबनूस, स्वर्णाभरण, अन्न, लोहे के हथियार तथा अनेक प्रकार के रंगीन कपड़े दीव से अरब तथा यूरोप के देशों को जाया करते थे। दीव में मलमल पर सुंदर बेलबूटों की रँगाई के अनेक कारखाने थे। यह काम यहाँ जोरों पर होता था। कच्छ के मांडवी राज्य के एक क्षत्रिय अपनी मातृभूमि छोड़कर यहाँ आ बसे और उन्होंने इसी काम के लिए एक कारखाना खोल लिया था। अब उनका कारखाना नगर के प्रमुख कारखानों में गिना जाने लगा। उन्हीं की पत्नी जेठी बाई भी कारखाने की देखभाल में जुट गईं थीं।

"एक दिन एक ऐसी घटना घटी कि कारखाने के एक कर्मचारी का शरीरांत हो गया। तब उसके बेटे की आयु मात्र ग्यारह वर्ष थी। जेठी बाई ने यह दृढ़ निश्चय किया कि वे उसे विधर्मी नहीं होने देंगी।"

एक दिन एक ऐसी घटना घटी कि कारखाने के एक कर्मचारी का शरीरांत हो गया। तब उसके बेटे की आयु मात्र ग्यारह वर्ष थी। जेठी बाई ने यह दृढ़ निश्चय किया कि वे उसे विधर्मी नहीं होने देंगी। उसी लड़के के वर्ण की एवं अवस्था की एक लड़की खोज निकाली। लड़की के पिता को जेठी बाई ने आश्वासन दिया कि बड़े होने तक लड़के तथा उसकी स्त्री के पालन-पोषण एवं शिक्षण का भार वे स्वयं उठाएँगी। ब्राह्मण बुलाये गए, लड़के के पिता का शव घर में पड़ा रहा और विवाह हो गया। पिता के शव के अग्निसंस्कार से लौटने पर सूबेदार आया और उसे निराश होकर लौटना पड़ा।

अब तो यह क्रम ही बन गया कि जिस लड़के के माता-पिता मरते, उसके संबंधी जेठी बाई के पास दौड़े आते। जेठी बाई किसी प्रकार बच्चे का विवाह करातीं और तब मृतक का शव श्मशान ले जाया जाता। परिणाम यह हुआ कि सारे अधिकारी उनसे रुष्ट हो गए, परंतु नगर के लोगों में उनकी कीर्ति प्रख्यात हो गई।

इस प्रकार, उन्होंने कितने ही लोगों को बचाया। अब तो वे रात-दिन यही सोचतीं कि और क्या किया जा सकता है। उन्होंने सुना था कि पुर्तगाल का शासन वहाँ की महारानी के हाथ में है। यह सोचकर कि नारी के हृदय में दया होगी उन्होंने एक प्रार्थना-पत्र लिखने का निश्चय किया। एक सुयोग्य बैरिस्टर से कुछ उपहार देकर प्रार्थना-पत्र लिखवाया और इतना ही नहीं, खूब सुंदर मलमल लेकर उस पर उन्होंने अपने हाथों से बेल-बूटे छापे। बीच में सुंदर कमल बनाया। कमल के बीच की कर्णिका पर बड़े ही सुंदर अक्षरों में पुर्तगीज भाषा में प्रार्थना-पत्र लिखा। उस ओढ़नी को उन्होंने चंदन की सुंदर-सी पेटी में सजाकर रखा। वह पेटी देखने में बहुत ही आकर्षक थी, क्योंकि उस पर बेल-बूटे भी बना दिए थे।

प्रार्थना पत्र में जेठी बाई ने बाल-अपहरण कानून का मार्मिक चित्र खींचा और लिखा कि यदि किसी बच्चे को अपरिचित लोग जबरदस्ती ले जाएँ तो कितना कष्ट होता है। उन्होंने यह भी लिखा कि कोई आपके पुत्र-पुत्री को छीनकर बलात ले जाए और अपने धर्म मे दीक्षित करे तो आपको कैसा लगेगा? अंत में प्रार्थना की कि नारी होने के नाते आप महारानी हैं, लोगों की व्यथा को समझें और इस अन्याय को रोकें।

प्रार्थना-पत्र को पालकी में या नौका में, जो उस समय के जलयान हुआ करते थे, से दीव से गोआ जाने में पूरे 14 दिन लगे। मार्ग में जलदस्युओं का भी भय था। अनेक संकट थे, परंतु जेठी बाई ने कभी पीछे मुड़कर देखना नहीं सीखा था। वे गोआ पहुँची। एक हाथ जलती हुई मशाल थी और दूसरे में ही प्रार्थना-पत्र की पेटी और मस्तक पर जलती अग्नि की सिगड़ी लेकर गवर्नर की कोठी के सामने पहुँचकर उन्होंने 'न्याय! न्याय! न्याय!' की पुकार की। गवर्नर ने इस विचित्र महिला को बुलाया तो जेठी बाई बोलीं—आपके शासन में अंधकार ही अंधकार है। इसी कारण मैंने मशाल ले रखा है। हम यद्यपि आपकी प्रजा हैं, पर अन्याय से जल रहे हैं। हमने यही बताने के लिए सिर पर जलती सिगड़ी रखी है। जेठी बाई ने अपने विचित्र वेश का यह रहस्य उन्हें बताया और प्रार्थना-पत्र भी सौंपा।

उसी समय गवर्नर और वायसराय ने इस बात पर विचार-विमर्श किया। वे जेठी बाई के व्यक्तित्व से पूरी तरह प्रभावित हुए। काउंसिल बुलायी गई और पत्र को पुर्तगाल भेजने का निश्चय हुआ। गवर्नर ने पत्र की सिफारिश भी की। यह पत्र पुर्तगाल पहुँचा। पुर्तगीज महारानी ने पत्र देखा और इतनी सुंदर कला भी देखी। इससे पहले उन्होंने कभी इतनी खूबसूरत कला नहीं देखी थी। जेठी बाई की ओढ़नी पुर्तगाल में 'पान दे जेठी' के नाम से प्रसिद्ध हुई। महारानी की ओर से ये आज्ञाएँ भेजी गईं—

1. अनाथ बच्चों के धर्म परिवर्तन पर तुरंत रोक लगायी जाए।
2. जेठी बाई मेरी पुत्री है और उसके सम्मान में उसके घर के सम्मुख सप्ताह में एक बार सरकारी बाजा बजाया जाए।
3. जब कोई जेठी बाई के घर के सामने से निकले तो टोप उतारकर सलामी दे। दीव के गवर्नर को भी आज्ञा का पालन करना होगा।

बड़े धूमधाम से वह ताम्रपत्र गोआ से दीव आया और वह आदरपूर्वक जेठी बाई को दिया गया। अनेक बार तो ऐसा होता था कि सरकारी अधिकारी महाजनों से विवाद होने पर जेठी बाई को मध्यस्थ बनाकर निपटारा हो जाया करता था। आश्चर्यजनक तो यह है कि जेठी बाई के घर के सामने एक पीलू का वृक्ष था और जब तक वह रहा, सरकारी कर्मचारी वहाँ जाकर टोप उतार लिया करते थे। उन्हें आज भी एक दयालु महिला, लोकनायिका के रूप में याद किया जाता है।

छाया-चित्र : अनंत संभावनाओं की अर्थछटाएँ

हमारा विश्व विविधता से छलछला रहा है। सैकड़ों देश, हजारों भाषाएँ, लाखों परंपराएँ, और इनको जोड़ती और बाँटती उन्हीं में घुली-मिली अनगिनत बोलियाँ। इन भाषाओं और बोलियों की अपनी-अपनी विचित्र लिपियाँ और ध्वनियाँ हैं। कोई किसी लिपि में एक भाषा लिखता है, तो कोई किसी सर्वथा भिन्न लिपि में कोई अन्य भाषा। भाषा न जानने वाले के लिए उसकी ध्वनियाँ कान के परदे पर नाचती रहती हैं। और लिपि न जानने वाले के लिए लिपि चिह्न आँख के परदे पर चित्र मात्र बनकर चमकते रहते हैं।

जोसेफ नीप्स की दुनिया की पहली तस्वीर। फ्रांस के सेंट-लूप-डी-वेरेन्स में उनके ले ग्रास एस्टेट की एक खिड़की से ली गई, इसे एक बिटुमेन-कोटेड प्यूटर प्लेट को कैमरा ऑब्स्कुरा में एक्सपोज करके बनाया गया था। इसमें आठ घंटे का एक्सपोजर टाइम लगा।

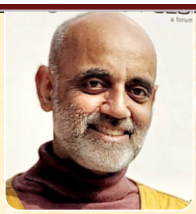

हिमांशु व्यास

जन्म : 25 अगस्त, 1973, जोधपुर (राजस्थान)

शिक्षा : बी.एससी., एम.ए. (अंग्रेजी साहित्य), फिल्म एप्रिसिएशन में शॉर्ट कोर्स (FTII, पुणे)

प्रकाशन : हिंदी हाइकु पर पुस्तक 'अरे!', फोटो-बुक 'फूली'; यूनिसेफ के सहयोग से प्रकाशित, 'नाटक टोली' (संपादन), साउथ ऑस्ट्रेलिया विश्वविद्यालय, एडिलेड में फोटोग्राफी कार्यशाला पर 'बियॉन्ड सेल्फी' पुस्तक का निर्माण। देश-विदेश की अनेक पत्र-पत्रिकाओं में फोटोग्राफ्स प्रकाशित।

सम्मान : महाराजा सवाई रामसिंह, रामनाथ गोयनका प्रेस फोटो पुरस्कार, वान-इंफ्रा, चीन में फोटो को स्वर्ण पुरस्कार सहित अनेक पुरस्कारों से सम्मानित।

संप्रति : 21 वर्ष 'हिंदुस्तान टाइम्स' में चीफ फोटोग्राफर रहकर वर्तमान में स्वतंत्र लेखन।

संपर्क : मोबाइल– 9829051055

ईमेल– himanshuvyas.art@gmail.com

पर आधुनिक विश्व की इस विविधता में एक विचित्रता आकार ले रही है। चित्रित विचित्रता! एक ऐसी विचित्र भाषा, जिसे पूरा विश्व एक साथ बिना किसी बाधा के 'बोल' रहा है। उसमें संवाद कर रहा है और एक-दूसरे को समझ भी रहा है। इस वैश्विक वि-चित्रता का नाम है—छायाचित्र! फोटोग्राफी!

क्या 1839 में 'फोटोग्राफी' शब्द देने वाले ब्रिटिश वैज्ञानिक सर जॉन हर्शेल को आभास था कि प्रकाश से लिखी जाने वाली भाषा एक दिन स्याही से लिखी जाने वाली भाषा के समकक्ष आ खड़ी होगी? और उसे चुनौती देती दिखेगी? वास्तव में, 'फोटोग्राफी' शब्द कला अथवा विज्ञान से कम, और भाषा से अधिक संबंध रखता है। रॉयल सोसायटी ऑफ लंदन के अपने एक भाषण में हर्शेल ने ग्रीक भाषा से दो शब्द—'फोस' (प्रकाश) और 'ग्राफे' (लिखना, दर्ज करना) को मिलाकर फोटोग्राफी शब्द दिया—प्रकाश से लिखना!

किंतु भारत ने फोटोग्राफी के लिए हिंदी में नया नाम खोजा। ऐसा माना जाता है कि भारत में 1961 में गठित वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, जिसने वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दों की भारतीय भाषाओं में मानक शब्दावली विकसित की, ने फोटोग्राफी के लिए जो भारतीय शब्द सृजित किया, वह था—छायांकन। तो क्या छायांकन की छाया का अर्थ 'परछाई' या किसी 'अँधेरी चीज' का चित्रण है? आइए, जानते हैं। मुझे ये बात सदा से ही रोचक लगती रही है कि एक वैज्ञानिक ने कैमरे द्वारा चित्र लेने की विधा को भाषा का नाम दिया (प्रकाश से लिखना) और भाषा से संबंधित एक आयोग ने उसी विधा को एक तथ्यपरक-सा वैज्ञानिक नाम दिया—'छाया का अंकन'। यानी कैमरे से किसी की छाया/प्रतिकृति बनाना।

निःस्संदेह, प्रतिकृति और उसका एक यंत्र द्वारा अंकन एक ऐंद्रिक तथा भौतिक क्रिया है, जबकि लेखन आध्यात्मिक और भावनिक से लेकर काल्पनिक व बौद्धिक भी हो सकता है। परंतु कैमरे द्वारा चित्र लेने की प्रक्रिया के लिए प्रयुक्त इन दो शब्दों की संकल्पनात्मक भाषायी भिन्नता परस्पर

विरोध का आभास नहीं देती, बल्कि ये दोनों शब्द, फोटोग्राफी में निहित अनंत संभावनाओं की अर्थछटाएँ ही हैं।

1922 से 1929 के मध्य प्रकाशित 'हिंदी शब्दसागर' में 'छाया' शब्द के अनेक प्रकार के अर्थ दिये गए हैं, जिनमें—प्रकाश का अभाव, परछाई, अनुकरण, अक्स और दर्पण में दिखाई पड़ने वाली वस्तुओं की आकृति भी हैं। 'छायांकन' शब्द इनमें से लगभग सभी अर्थों को अपने में समेटता है। कैमरे में बन रही छवि किसी आकार का सिलुएट भी हो सकती है, उसकी छाँव भी और विषय का प्रतिबिंब भी। मजेदार बात यह है कि 'हिंदी शब्दसागर' में ही अगले पन्ने पर छायाचित्र के लिए जो शब्द दिया गया है वह 'फोटोग्राफी' के काफी निकट है—आलोक चित्र।

पर क्या फोटोग्राफी को सदा से फोटोग्राफी ही कहा जाता रहा है? जी नहीं।

प्रतिवर्ष 19 अगस्त को 'विश्व फोटोग्राफी दिवस' मनाया जाता है। दरअसल, इसी दिन 1839 में फ्रांस की सरकार ने एक आधिकारिक सभा में फोटोग्राफिक प्रक्रिया को किसी भी पेटेंट अथवा बौद्धिक संपदा अधिकार आदि से मुक्त कर मानो पूरे संसार को इसे उपहार में दे दिया था। हाँ, इस एवज में सरकार ने फोटोग्राफी के आविष्कारकर्ता नीप्सी और उसे उन्नत करने वाले डेगुएरे को आजीवन पेंशन प्रदान की।

फोटोग्राफी का आविष्कार तो इस घटना से तकरीबन 13 बरस पहले, 1826 में फ्रांसीसी वैज्ञानिक नीस्फोर नीप्सी कर चुके थे। नीप्सी को संसार का पहला स्थायी फोटो लेने में लगभग आठ घंटे लगे थे। और ये फोटो उन्होंने अपने कमरे की खिड़की से दिख रही ढलुआँ छतों पर पड़ती धूप का लिया था। नीप्सी ने अपने इस पहले फोटो को 'हीलिओग्राफ' कहा था, क्योंकि फोटो धूप से बना था और ग्रीक भाषा में सूर्य को 'हिलियोस' कहते हैं।

फ्रांस में ही, लगभग उसी कालखंड में, मेलों और जलसों में विशाल पर्दों पर चित्र बनाकर दर्शकों का मनोरंजन करने वाले लुइ डेगुएरे ने नीप्सी की प्रक्रिया को थोड़ा गतिमान किया और एक फोटो खींचने का समय आठ घंटों से घटाकर कुछ मिनटों तक ले आए। उन्होंने अपनी प्रक्रिया को अपना ही नाम दे दिया—डेगुएरेटाइप। उधर, ब्रिटेन में हेनरी फॉक्स टैलबोट भी ठीक उन्हीं दिनों कैमरे से फोटो लेने की नेगेटिव-पॉजिटिव विधि का आविष्कार कर चुके थे। पर चूँकि टैलबोट मूलतः एक पेंटर थे, उन्होंने अपनी विधि को नाम दिया—कैलोटाइप, अर्थात सुंदर चित्र। हम देखते हैं कि इन सारे शुरुआती नामों से फोटोग्राफी विधा के बारे में जो धारणा बनती है वो या तो प्रक्रियात्मक है या व्यक्तिनिष्ठ।

फोटोग्राफी में अंतर्निहित उसके भाषायी गुण को परिमार्जित करके एक व्याकरण देने का भगीरथ कार्य किया फ्रांसीसी फोटोग्राफर ऑनरी कार्टीअर-ब्रेस्सां ने। बीसवीं सदी के मध्य की वैश्विक घटनाओं तथा जनजीवन के अविस्मरणीय फोटोग्राफ्स लेने वाले इस महान फोटोजर्नलिस्ट ने फोटोग्राफी को एक भाषा की ऊँचाई और दर्शन की गहराई प्रदान की। ब्रेस्सां ने अपनी पहली ही फोटो बुक में लगभग 5,000 शब्दों की एक अत्यंत दार्शनिक भूमिका लिखी। उन्होंने कहा, 'एक फोटो लेने के लिए आपको दिल, दिमाग और आँख को एक सीध में लाना होता है। ये जीवन का एक पथ है।' ब्रेस्सां ने ही सर्वप्रथम फोटोग्राफी में 'निर्णायक क्षण' को सबसे महत्वपूर्ण कौशल बताते हुए कहा कि प्रत्येक घटना में एक क्षण ऐसा आता है, जब उसके सारे अवयव परस्पर यूँ अवस्थित हो जाते हैं कि अपने विन्यास से ही स्वयं अपनी बात कह देते हैं। जहाँ एक तरफ ये कहकर ब्रेस्सां छायांकन को उसके पूर्वज चित्रकला की छाया से निकालकर एक स्वतंत्र पहचान दे रहे थे, वहीं वे वस्तुतः फोटोग्राफी के अंदर भाषा की ही भाँति एक वाक्य-विन्यास की स्थापना कर रहे थे।

फोटोग्राफी, जो तब तक मात्र एक कलात्मक कौशल या दस्तावेजीकरण का माध्यम थी, उसमें ब्रेस्सां के इस कथन से लोगों को एक कथात्मकता की प्रतीति हुई। अब निर्णायक क्षण पर क्लिक किया हुआ एक फोटो बिना किसी लंबे चौड़े शाब्दिक वर्णन के अपनी बात एक क्षणिक कहानी की तरह दर्शक को अनुभूत करा देता। ब्रेस्सां के छायाचित्र में कहानियाँ देखने वाले की आँखों में एक निःशब्द फव्वारे की तरह फूटती और खुलती-छलकती रहती। ब्रेस्सां से पहले फोटोग्राफी करीब-करीब पूर्णतया चित्रकला की परंपरा से प्रभावित थी। ब्रेस्सां ने छायाचित्र में रची-बसी उस विधा की अपनी कविता को संसार को दिखाया।

जहाँ मन ठहरता है वो बात ही तो कहने का मन होता है! एक फोटोग्राफर के लिए दिल, दिमाग और आँख एक सीध में रखने का ब्रेस्सां का कथन किसी साहित्य-सा अनेक आयाम खोलता है। कैमरे लिये हुए हाथ में विषय का चयन मन करता है। कैमरे के अंदर उस विषय को लाती और बिठाती छायाकार की आँख है। पर वो विषय उस आयताकार फ्रेम में कहाँ बैठेगा? कैसा दिखेगा? क्या कहेगा? उसका कंपोजिशन क्या होगा? फोटोग्राफी में कंपोजिशन शायद सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है। और वो तय बुद्धि से होता है। मति से होता है। पर इसके लिए छायाकार की मति किसका अनुसरण करेगी—'केहि छाया कबि मति अनुसरई?' रामचरितमानस के बाल कांड में तुलसीदास जी कहते हैं,

कहहु सुपेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई।
कबिहि अरथ आखर बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा॥

अर्थात, जो मन में है उसे प्रकट करने के लिए कवि की मति किसकी छाया का अनुसरण करे? तुलसीदास जी ही उत्तर देते हैं—कवि को तो अक्षर और अर्थ से ही सच्चा बल मिलता है। पर एक

फोटोग्राफ में तो दृश्य दिखता है, अक्षर नहीं। तो अर्थ कहाँ उत्पन्न होगा? एक फोटोग्राफ पदार्थ दिखाता है, क्या पदार्थ को पढ़ सकते हैं? इस बिंदु से छायांकन की महिमा मनोरम होना शुरू होती है। और इसमें हमारी सहायता करती है जाबाला।

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के ऐतिहासिक उपन्यास 'अनामदास का पोथा' में तरुण तापस रैक्व का आख्यान आता है। घनघोर आँधी-तूफान में भटके, अपने आश्रम से बहुत दूर, रैक्व जलधाराओं द्वारा एक गाँव के बाहर उछाल दिए जाते हैं। पास ही उसी आँधी की शिकार, राजा जानश्रुति की कन्या, राजकुमारी जाबाला भी अचेत पड़ी हैं। उनका रथ बिखर गया है और कोचवान जीवित न बचा।

तरुण ऋषि रैक्व अनाथ हैं और उनकी माता तो उन्हें जन्म देते ही चल बसी थीं। वन में एकाकी और सतत साधना में समय बिताते हुए, उन्हें जीवन में कभी किसी स्त्री के दर्शन नहीं हुए। उनको चेतना आती है। भोले रैक्व, अचेत जाबाला को अज्ञानवश देवलोक का मनुष्य समझ बैठते हैं। और कुतूहल एवं करुणा से भरकर उसे स्पर्श कर लेते हैं। सहसा जाबाला को भी होश आ जाता है। वे रैक्व को कहती हैं कि परस्त्री के यूँ निकट नहीं आना चाहिए।

तो रैक्व अपना परिचय देते हैं और पूछते हैं, "हे देवलोक के मनुष्य, तुम कौन हो?" विद्वान जाबाला जान जाती हैं कि युवा ऋषि निष्कपट हैं और विद्वान हैं। वह व्याकरण का रास्ता चुनती हैं।

राजकुमारी कहती हैं कि "तुमने व्याकरण में जो स्त्रीलिंग पढ़ा है, मैं वो हूँ।"

रैक्व कहते हैं, "मैंने स्त्रीवाचक पद तो पढ़े हैं, पर उसके अर्थ, यानी पदार्थ का मुझे ज्ञान नहीं है?"

तो जाबाला उन्हें समझाती हैं कि वह ही उस पद का अर्थ हैं।

तो कैमरे के व्यूफाइंडर से एक छायाकार को जो जड़-चेतन पदार्थ दिखते हैं, सब किसी शब्द के अर्थ हैं। उन पदार्थों के कलात्मक संयोजन से एक छायाकार 'वाक्य' और अर्थ रचता है। और तब एक भाषा की ही तरह फोटोग्राफ भाव सृजित करता है, सूचनाएँ देता है, बात कहता है। छायाकार की मति इन पदार्थों में प्राणवंत इस अर्थ से सच्चा बल पाती है। इन पदार्थों के रचनात्मक कंपोजिशन को, निर्णायक क्षण को, 'कवि मति अनुसरई' करती है।

भारत में ऐसे अनेक छायाकार हुए हैं, जिन्होंने देश के लोगों की, समाज की, मेलों, त्योहारों और युद्धों की, दिन-प्रतिदिन के जीवन की कहानियाँ कैमरे के माध्यम से कही हैं। उनके छायाचित्रों में क्षणभंगुर भावनाओं की छायाएँ सदा के लिए अंकित हो गई हैं। चाहे वह स्वतंत्रता से पहले राजा दीन दयाल द्वारा लिये गए भारत की अद्वितीय वास्तुकला के छायाचित्र हों या जयपुर के महाराजा राम सिंह द्वारा अपने महल की महिलाओं के प्रथम बार अंकित कलात्मक पोर्ट्रेट्स, छायांकन की कला हमारे यहाँ सतत नए सोपान चढ़ती रही। 1854 में ही मुंबई में फोटोग्राफिक सोसायटी ऑफ बॉम्बे का गठन हो चुका था।

जहाँ महिला सशक्तीकरण की बातें आज भी महत्वपूर्ण हैं, भारत में आजादी के आस-पास सर्वाधिक प्रभावशाली फोटोग्राफर एक महिला ही थीं—होमाई व्यारवाला! पल-प्रतिपल बदलते उन वर्षों के भारत में, जब अधिकांश स्त्रियाँ घर की चारदीवारी तक सीमित थीं, खादी की साड़ी पहने और हाथ में रोलीफ्लेक्स कैमरा थामे विनम्र व्यक्तित्व की धनी होमाई क्वीन एलिजाबेथ से लेकर आइजनहॉवर, नेहरू और जैकलिन कैनेडी के छायाचित्र ले रही थीं। वर्ष 1956 में उनका लिया दलाई लामा के भारत-प्रवेश का फोटोग्राफ हमारे राष्ट्र की करुण आत्मा का दस्तावेज भी है। आजादी के बाद टी.एस. सत्यन, एस. पॉल और ओ.पी. शर्मा सरीखे छायाकारों ने जहाँ अपने काम से इस तरुण कला को उन्नत किया, वहीं शिवजी जोशी जैसे विश्वविख्यात फोटोग्राफर आज 84 वर्ष की आयु में भी जोधपुर की गलियों में देशभर के फोटोग्राफी सीखने वालों को कैमरे की 'भाषा' सिखा रहे हैं। एनबीटी द्वारा प्रकाशित अशोक दिलवाली की पुस्तक 'ऑल अबाउट फोटोग्राफी' इस विधा में रुचि रखने वालों के लिए एक महत्वपूर्ण पुस्तक रही है।

और आज जब हर मोबाइल में कैमरा है और हर हाथ में मोबाइल, संसार में प्रतिदिन पाँच अरब के निकट फोटोग्राफ्स खींचे जा रहे हैं। मानो फोटोग्राफ के बिना हर बात या घटना अधूरी है। किंतु इस पर विचार होना आवश्यक है कि अधूरेपन का यह भय आधिक्य और अतिरेक के उन्माद में तो नहीं बदल जाएगा? नहीं। यदि हर छायाकार का दिल, दिमाग और आँख एक सीध में हो और उनकी कवि-मति कैमरे से जीवन को एक अर्थ प्रदान करने में रस पाती रहे।

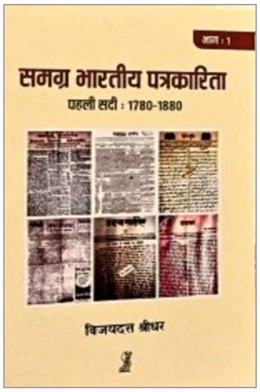

समीक्षक : **विजय मनोहर तिवारी**

लेखक : **विजयदत्त श्रीधर**

प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

पृष्ठ : 1440

मूल्य : रु. 4500/- (सजिल्द)

समग्र भारतीय पत्रकारिता (तीन खंड)

सच्चे अर्थ में 'समग्र भारतीय पत्रकारिता' तीन खंडों में अखंड भारत के मानचित्र पर प्रकाशित हुए अनगिनत दीपों का प्रकाश है, जो गुलामी के अँधेरे से जूझते भारत को एक सच्ची दिशा दिखा रहे थे। यह दस्तावेज हमें बताता है कि भारत के स्वाधीनता संघर्ष में जितना योगदान अपने सिर पर कफन बाँधकर चलने वाले अमर क्रांतिकारियों, शांतिप्रिय समाज सुधारकों और कांग्रेस के बैनर तले सक्रिय बापू के राजनीतिक अनुयायियों का रहा है, उतना ही योगदान समाचार पत्र एवं पत्रिकाओं के निहत्थे वीर और त्यागी संपादकों और प्रकाशकों का भी रहा।

'समग्र भारतीय पत्रकारिता' के तीन भाग हैं, जो तीन सदियों के विस्तृत कालखंडों में फैले हुए हैं। पहली सदी 1780-1880, तिलक युग 1881-1920 और तीसरा गाँधी युग 1921-1948। इन तीनों भागों को मैंने एक अनूठे यात्रा-वृत्तांत की तरह पढ़ा। यह यात्रा आरंभ होती है 1780 में कलकत्ता से।

यह सुखद संयोग है कि 'समग्र भारतीय पत्रकारिता' 2026 में प्रकाशित हुआ है और इसी साल भारत में हिंदी पत्रकारिता के 200 वर्ष पूरे हो रहे हैं। 30 मई, 1826 को कलकत्ता से ही हिंदी का पहला अखबार 'उदंत मार्त्तण्ड' प्रकाशित हुआ था, जिसके संस्थापक संपादक श्रद्धेय युगलकिशोर शुक्ल थे। पहले ही अंक में अपने अखबार के प्रकाशन के उद्देश्य पर लिखे उनके शब्द हैं—'हिंदुस्तानियों के हित के हेत।' यह भारत में पत्रकारिता की भूमिका का घोष वाक्य है।

इन तीन खंडों के बेजोड़ संग्रह में भारत की पत्रकारिता का रोमांचकारी इतिहास सरल भाषा में दर्ज है। अपने समय के ये अखबार हमें बताते हैं कि 1780 के बाद भारत के क्षितिज पर क्या-क्या उभरा और क्या-क्या डूब गया। कहीं अंतिम साँसें लेते मुगलों के अवशेषों तो कहीं देसी रियासतों और अधिकतर अंग्रेजों के चंगुल में फँसे भारत के भू-भाग पर चल रही राजनीति के उतार-चढ़ावों की झलक इनमें है। यह अखबारों का इतिहास तो है ही, मगर अखबारों में छपी सामग्री भारत का भोगा हुआ सच भी उजागर करती है।

'समग्र भारतीय पत्रकारिता' के तीन खंड टेबल पर बैठकर गहराई में गोते लगाने जैसा अनुभव है। जैसे अंडमान के साफ समुद्रीय द्वीपों के आस-पास दुनियाभर के लोग हरे-नीले पानी की पारदर्शी गहराई में उतरकर जलजंतुओं के विस्मयकारी जगत के दर्शन करते हैं, ठीक उसी तरह आप इस शोधपूर्ण संग्रह में 168 साल की भारतीय पत्रकारिता के आकाश में देश के कोने-कोने में उगे, टिमटिमाए, देर तक प्रकाशित रहे सितारों के दर्शन करते हैं। भोपाल में राजा भोज ने एक विशाल तालाब का निर्माण कराया था, जो एक हजार सालों से 35 वर्ग किलोमीटर में भोपाल की सुंदर प्राकृतिक पहचान बना हुआ है। यह दूसरा 'जलाशय' सप्रे संग्रहालय के नाम से है। वस्तुतः, यह ग्रंथमाला बूँद-बूँद से भरे एक जलाशय का दस्तावेज है।

आप कल्पना कीजिए कि 7 मार्च, 1861 को ढाका से एक अखबार निकला, जिसका नाम है—'ढाका प्रकाश'। इसके संपादक थे—कृष्णचंद्र मजूमदार। प्रकाशक थे—ब्रजसुंदर मिश्र, दीनबंधु मलिक और चंद्रकांत बसु। 20 फरवरी, 1868 को जैसोर जिले से 'अमृत बाजार पत्रिका' बाँग्ला में प्रकाशित हुआ। शिशिर कुमार घोष और भाई मतिलाल ने यह दीप भारत के दूर के कोने में जलाया। एक ही साल में यह अंग्रेजी में छपने लगा। बाद में यह कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इसने अनेक मोर्चों पर अंग्रेजों से टक्कर ली।

1875 में लाहौर में विक्टोरिया प्रेस से हिंदी मासिक 'हिंदू बाँधव' का प्रकाशन हुआ, जिसके संपादक थे शिवनारायण अग्निहोत्री। एक जून 1877 को साप्ताहिक 'खुर्शीद-ए-आलम' का प्रकाशन भी लाहौर से हुआ, जिसके संपादक मुंशी जियालाल और प्रकाशक मुंशी जगन्नाथ थे। आठ पृष्ठ का यह अखबार हर सोमवार को छपता था। ढाका और लाहौर के अलावा भी इनके आस-पास के शहरों से हिंदी, बाँग्ला, अंग्रेजी और उर्दू के अखबार छपे।

सच्चे अर्थ में 'समग्र भारतीय पत्रकारिता' विजयदत्त श्रीधर की तीन खंडों वाली यह पुस्तक सबके हिस्से के संघर्ष और त्यागपूर्ण सच्चे खातों का आँखें खोलने वाला खुलासा करती है। 2020 में आई नई शिक्षा नीति के दूरदर्शी निर्माताओं को यह पुस्तक अवश्य देखना चाहिए। क्या हम स्कूलों-कॉलेजों के पाठ्यक्रम में एक अध्याय इस पर जोड़ सकते हैं?

समीक्षक : **अजीत अवस्थी**

लेखक : **श्यामसुंदर दुबे**

प्रकाशक : उर्मिल प्रकाशन, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश

पृष्ठ : 154

मूल्य : रु. 495/-

खिड़की भर उजास

स्मृतियाँ हमारे विगत के तमाम रंगों का मेला है, जिसकी उजास के आसरे हम उज्जीवित हो उठते हैं। स्मृतियाँ अकेलेपन की संगिनी भी हैं, जो हमें एकांत से उबारती हैं। अंतस में जब स्मृतियों की साँकल बजती है, तो मन यादों की यात्रा पर निकल पड़ता है। यह यादों की यात्रा साधारण यात्रा नहीं है, इसमें अतीत के रंग-बिरंगे बिंब कभी-कभी धुँधले तो कभी स्पष्ट, तो कभी एकदम सीधे-सीधे आकार लिये जेहन में उकरते चले जाते हैं। यही बिंब स्मृति का एक कोलाज बनाते हैं। इस कोलाज में विगत कुछ इस तरह खेलता है कि सृजनशील मन इसे कलमबद्ध किए बिना नहीं रह पाता। उम्र की सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते अनुभव से पगा रचनाकार जब अपनी स्मृतियों की खिड़की को खोलता है और अपने आत्मीयजनों की यादों का आवाहन करता है, तब इन्हीं आवाहयामि यादों को दर्ज करते एक महत्वपूर्ण कृति आकार ले लेती है। यहाँ एक ऐसी ही कृति की चर्चा आरंभ कर रहा हूँ—लोकविद् श्यामसुंदर दुबे की नवीन कृति 'खिड़की भर उजास'। नामी-गिरामी व्यक्तित्वों के साथ उनके आस-पास के व्यक्तित्वों की स्मृतियों को सहेजने वाली यह अनूठी कृति है। अनूठी इस रूप में कि इसे पढ़ना, यानी अतीत के रंगों में डूबते-उतराते उन महनियों से भेंट करना है, जो अपने समय के प्रतिभा-संपन्न रहे हैं। किताब में स्मृत की गई शख्सियतों को जानने-समझने के लिए उनके विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करने भर का सुयोग नहीं है, बल्कि स्मरणीय लोगों के उस दौर और परिवेश से परिचित कराने का सुयोग भी है, जिसमें पाठक इन 22 संस्मरणों के आधार पर अतीत को सैरबीन के माध्यम से स्पष्ट देखता-जाँचता जान पड़ता है।

कहा जाता है कि जब पिता अपने पुत्र के नाम से जाना-पहचाना जाने लगे तो समझिए कि पिता के पुण्योदय हुए हैं। यह पिता के लिए गर्व से भर देने वाले क्षण होते हैं। लेखक ने प्रख्यात कवि हरिवंशराय बच्चन को स्मरण करते हुए एक ऐसा ही वाकया इस किताब में 'केयर ऑफ अमिताभ बच्चन' शीर्षक वाले संस्मरण में दर्ज किया है। लेखक का डॉ. बच्चन से मिलना-जुलना, साहित्यिक परिचर्चा और पत्राचारी संबंध रहे हैं। दुबे जी लिखते हैं कि हरिवंशराय बच्चन को लिखे उनके किसी पत्र का उत्तर-पत्र वापस आया। इस अपने उत्तर-पत्र में हरिवंशराय बच्चन ने निचले हिस्से में स्वयं के पते में 'केयर ऑफ अमिताभ बच्चन' लिखा था। पिता का 'केयर ऑफ' के रूप में पुत्र का नाम लिखना अचरज से भर देने वाला था। इसलिए भी कि अमिताभ बच्चन भले ही फिल्मों में खूब नाम कमा रहे थे, पर उनके पिता हरिवंशराय बच्चन जी की भी उस समय कोई कम ख्याति न थी। फिर भी पिता का अपने पते में 'केयर ऑफ' में पुत्र के नाम का उल्लेख अमिताभ बच्चन की कीर्ति में चार-चाँद लगाने का प्रियतर प्रयत्न था।

लेखक ने अपने से कुछ ज्येष्ठ और कुछ समकालीन साहित्यकारों को आदर के साथ याद किया है। विद्यानिवास मिश्र पंडित जी को गद्य साहित्य में ललित निबंध विधा में बरगद के मानिंद बताते हुए उन्हें नई पीढ़ी के रचनाकारों के प्रति अत्यंत उदार माना है, जबकि अज्ञेय, शिवमंगल सिंह सुमन, श्रीनरेश मेहता को वात्सल्य निधि शिविरों के माध्यम से याद किया गया है तो प्रख्यात व्यंगयकार हरिशंकर परसाई को याद करते हुए लेखक कहते हैं कि परसाई जी खुद तो व्यंग्य लिखते ही थे, व्यंग्य लेखन के लिए प्रोत्साहित भी करते थे। इसके पुख्ता सबूत किताब में अंकित हैं। वे सहृदय थे और उनके पास वत्सल भाव भी था।

लेखक ने अपने एक संस्मरण में अटल बिहारी वाजपेयी जी से उनकी सहज मुलाकातों को अपनी तरह से याद करते हुए उनके काव्य मूल्यांकन किए जाने की चर्चा की है। लिखते हैं कि वाजपेयी जी का व्यक्तित्व बहुयामी था, इसलिए वे कविता को यथेष्ठ समय नहीं दे पाए, लेकिन अपने भीतर घुमड़ते अनुभवों की काव्य-उत्तेजनाओं से उन्होंने किनारा नहीं किया—वे उन्हें अपनी भाषा में प्रकट करने के अवसर चूके नहीं हैं।

श्यामसुंदर जी ने अपने क्षेत्र के दो साहित्यक पुरखों, डॉ. लक्ष्मी प्रसाद मिस्त्री, यानी रमाकवि और सत्यमोहन वर्मा को उनके साहित्यिक अवदान के लिए याद किया है। साहित्यकारों से इतर होते हुए लेखक ने अपने गाँव घर के ही डॉक्टर रमाशंकर त्रिवेदी को एक संस्मरण में पूरी शिद्दत से स्मृत किया है। डॉ. रमा, रोगी की सीरियस स्थिति के डॉक्टर थे। जब रोगी मरणासन्न हो जाता, तब डॉक्टर रमा को बुलाया जाता था। वे रोग की जड़ पकड़ते थे और उस पर प्रहार करते थे और रोगी खड़ा हो जाता था।

कौन रचनाकार बड़ा है या कौन छोटा इस भेद से परे होकर सभी को अपनत्व भाव से याद किया गया है। संस्मरण केवल प्रशंसात्मक होते हैं, यह भ्रम भी इस किताब में टूट जाता है। इसलिए कि श्यामसुंदर जी साहित्य के परिपक्व रचनाकार हैं और किताब में जो जन याद किये गए हैं उनके जीवन के विविध पक्षों का उल्लेख बेबाकी से किया गया है। किताब का शीर्षक पढ़ने के बाद ही जाने क्यों मुझे इसको पढ़ने की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। जब किताब को पढ़ने के सफर पर निकला तो लेखक की यादों में खुलती पंखुड़ियों से आती इत्र-सी खुशबू ने मुझे घेर लिया। यह स्मृतियाँ खूब महकती भी हैं और प्रेरक भी हैं। यह किताब केवल व्यक्तिगत स्मृतियों का लेखा-जोखा नहीं, बल्कि एक युग, एक परिवेश और एक खास जीवन का बारीक चलचित्र प्रस्तुत करती है। यह चलचित्र असाधारण लोगों का है, जिन्हें जानना-समझना कई परिप्रेक्ष्य में जरूरी लगता है, खासतौर से नए लेखकों और पाठकों के लिए। किताब की भाषा सरल और रोचक है, जिससे पाठक सहजता के साथ किताब को पूरा पढ़ता है।

समीक्षक : **प्रियंका भकुनि**

लेखक : **हरिसुमन बिष्ट**

प्रकाशक : विजया बुक्स, शाहदरा, दिल्ली-110032

पृष्ठ : 144

मूल्य : रु. 225/-

हवाओं में घिरा आदमी
(उपन्यास)

मानव-जीवन जितना सुलझा हुआ है उतना ही उलझा हुआ है। उसे समझना जितना सरल है उतना ही जटिल भी है। न जाने कितना कुछ है, जो मनुष्य के मन में उफनते हुए सागर की भाँति भावों की लहरों के रूप में प्रकट होता है और न जाने कितना कुछ बच जाता है, जो उदास सागर की तरह मौन है। इस मौन को तोड़ने का काम करता है—प्रसिद्ध कथाकार हरिसुमन बिष्ट का उपन्यास, 'हवाओं में घिरा आदमी'। यह उपन्यास नहीं है, बल्कि युवाओं के मन का दर्शन है। यह उपन्यास युवा-मन के द्वंद्व को उभारता है। व्यक्ति के मन में कितना कुछ समाया हुआ है, वह कितनी परतों में सोचता है? सोचने की प्रक्रिया में किन-किन राहों से गुजरता है, अपने मन की बातों का कितना हिस्सा प्रकट कर पाता है? ऐसे तमाम प्रश्न इस उपन्यास के पात्र उठाते हैं। बिष्ट जी जब भी उपन्यास लिखते हैं तो अपने चिंतन की गहराई और अनुभव को प्रामाणिकता के साथ ही लिखते हैं। उनके उपन्यास मानव-जीवन की उन सच्चाइयों से हमें रू-ब-रू करवाते हैं, जिन्हें हर कोई भोगता तो है, किंतु कह नहीं पाता है। इस उपन्यास का मौन पढ़े जाने योग्य है। उपन्यास का शीर्षक हमारा ध्यान आकर्षित करता है। यह शीर्षक एक द्वंद्वग्रस्त आदमी की स्थिति को दर्शाता है।

लेखक ने आज के युवा-मन को पढ़ा भी है और इस उपन्यास में गढ़ा भी है। वर्तमान दौर सोशल मीडिया का दौर है और इस दौर में फेसबुक, एक्स (ट्विटर), इंस्टाग्राम का बोलबाला है, जहाँ लाखों लोग एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और उनसे निरंतर बात भी करते हैं, भले ही वे कभी मिले न हों, फिर भी उनका निरंतर एक-दूसरे से संवाद एक संबंध विकसित करता है, जिसमें ओस की नमी-सी भीगी घास की तरह हृदय में प्रेम-भाव की सिहरन पैदा कर देता है। इस उपन्यास की कहानी एक ऐसे ही लड़के और लड़की की है, जो सोशल मीडिया पर मिलते हैं और बातचीत का सिलसिला उन्हें एक-दूसरे से मिलने की ललक पैदा कर देता है। उपन्यास में एक युवा है, जिसका जयगाँव से इमीग्रेशन हो जाता है और वह भूटान में जाकर रहने लगता है। उपन्यास की शुरुआत में ही लड़का अपनी सोशल मीडिया पर बनी दोस्त डेनेजा से मिलता है। यहाँ से उपन्यास की कहानी शुरू होती है। उस लड़के का भूटानी लड़की से मिलना पाठक के भीतर एक जिज्ञासा पैदा करता है। किंतु जैसे-जैसे उपन्यास आगे बढ़ता है तो पाठक को पता चलता है कि जिस लड़की से लड़का भूटान में मिलता है वह आभासी पटल पर पहले से ही मिल चुके हैं, अब तो बस भौतिक उपस्थिति की पूर्ति भर हुई है। उपन्यास की पूरी कहानी इन्हीं दोनों के इर्द-गिर्द घूमती है।

यह उपन्यास भूटान की संस्कृति, परंपरा, परिवेश, भाषा, खान-पान, रहन-सहन और महत्वाकांक्षी युवा का मार्मिक आख्यान रचता है। संवेदना की कसौटी पर यह उपन्यास प्रेम-भाव की अभिव्यक्ति है। न जाने कितनी प्रेम कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं, किंतु यह प्रेम कहानी अनूठी है। साधारण विषय को बिष्ट जी ऐसे प्रस्तुत करते हैं कि उसमें एक नयापन झलकने लगता है। यह नयापन उनकी कहन शैली में है। बिष्ट जी भाषा के जादूगर हैं। उनका भाषा पर पूर्ण अधिकार है। यह उपन्यास पढ़ते हुए लगता है कि पात्र अपने संवाद स्वयं गढ़ रहे हों। उनकी भाषा में वह ताकत है, जो मन का बहुत ही बारीक विश्लेषण कर सके। बिष्ट जी पहाड़ी हैं और पहाड़ प्रकृति की अनुपम छटा और सौंदर्य का मूर्त रूप हैं, इसलिए जब वे प्रकृति का वर्णन करते हैं तो उसे जीवंत कर देते हैं। ऐसा लगता है, मानो हम स्वयं उन वादियों में चल रहे हों, उस परिवेश को जी रहे हों, जो उपन्यास के पात्र जी रहे हैं। सच तो यह है कि यह उनकी भाषा की ही ताकत है और उनकी यह खूबी इस उपन्यास में विशेष रूप से उजागर हुई है। इस उपन्यास की भाषा प्रकृति की मोहकता और उसकी तरलता में घोल देने वाली है। बिष्ट जी ने स्त्री और प्रकृति में साम्य भी प्रस्तुत किया है।

न जाने कितनी प्रेम परिभाषाएँ दी जा चुकी हैं, किंतु जो परिभाषा इस उपन्यास में है वह अनूठी है और बहुत व्यापक है, 'यह प्रकृति से प्रेम करने की अपनी-अपनी दृष्टि है। निराकार से भी लौ लगाना अनुचित नहीं। प्रेम किसी से भी हो सकता है—इनसान से, प्रकृति से और उस पर आश्रित सभी प्राणियों से भी। यहाँ तक कि चेतन के साथ अवचेतन में, यानी जड़ पदार्थ से भी। वह किसी भी तरह के विमर्श को नहीं मानता और न सीमाओं में बँधता है। किसी भी तार्किकता से ऊपर होता है।' (पृ. 8) यह उपन्यास सिर्फ प्रेम की कहानी नहीं कहता और न ही दो लोगों के मध्य का संवाद है, बल्कि यह तो एक जीवन-यात्रा है।

यह उपन्यास 'मैं' शैली में लिखा गया है। 'मैं' शैली की सबसे बड़ी विशेषता होती है कि वह पाठक को कहानी से जोड़ देती है, क्योंकि पाठक पढ़ते समय 'मैं' को संबोधन करता है और उसे लगता है कि यह मेरी कहानी ही तो है! वह स्वयं कहानी में प्रवेश कर जाता है और उसका यह प्रवेश उपन्यास के परिवेश को जीवंत कर देता है और उनके जो संवाद होते हैं उनमें जीवन-दर्शन है। इस उपन्यास का दायरा बहुत व्यापक है। इसमें समाज, राजनीति, धर्म, संस्कृति से जुड़ी तमाम धारणाओं और उससे जुड़े द्वंद्व को भी दिखाया गया है। यह आज के समय की जरूरी रचना है, जिसे पढ़ना अपने समय से जुड़ना है। एक लेखक को उसकी कहन शैली और भाषा ही विशेषता प्रदान करती है और उसे अन्य लेखकों से अलग खड़ा करती है। हरिसुमन बिष्ट ऐसे ही लेखक हैं। उनके पास अपनी भाषा और कहन शैली है, जो उन्हें विशिष्ट बनाती है।

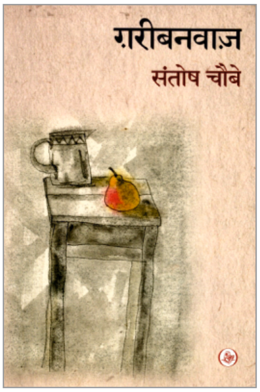

समीक्षक : **अशोक मिश्र**

लेखक : **संतोष चौबे**

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

पृष्ठ : 270

मूल्य : रु. 795/- (सजिल्द)

ग़रीबनवाज़

(कहानी-संग्रह)

ग़रीबनवाज़ सुप्रसिद्ध कथाकार संतोष चौबे की दस लंबी कहानियों का नया संग्रह है। संतोष जी कहानी लिखने के साथ ही उपन्यास, कविता, आलोचना, निबंध भी लिखते रहे हैं। संग्रह में शामिल कहानियाँ पत्रिकाओं में प्रकाशित और चर्चित हो चुकी हैं। उनकी कहानियों में देश, समाज, परिवार, विकास, कला, साहित्य की दुनिया, राजनीति, प्रशासन, विकास की अवधारणा, सरकारी सिस्टम में घुन की भाँति व्याप्त भ्रष्टाचार आदि की कथा है। सामान्य रूप से किसी भी कहानीकार की प्रत्येक कहानी अंदाजे बयाँ और कहन के साथ-साथ उसकी सामाजिक चिंताओं और प्रचलित धारणाओं को तोड़ते हुए भविष्यगामी भी हो सकती है और मील की पत्थर भी।

संग्रह की सबसे मानीखेज कहें या कि व्यापक रेंज वाली कहानी, 'नौ बिंदुओं का खेल' है। कहानी सरकारी विकास के नाम पर देश में बह रही विकास और औद्योगीकरण की गंगोत्री के पीछे की अंतर्कथा को बड़े ही विश्वसनीय ढंग से कहती है। यह कहानी एक बहुत ही व्यापक फलक की कहानी है, जहाँ औद्योगिक घराने सत्ताधारी पार्टी को चंदे की भारी भरकम राशि देकर मनमाने ढंग से बड़ी-बड़ी परियोजनाएँ और जमीन अल्प कीमत अदा कर हासिल करते हैं और उस निवेश से अपार लाभ कमाते हैं। यहाँ जनता के अधिकारों का भी हनन होता है। इस सारे खेल को विकास के नाम पर खेला जाता है, जबकि परदे के पीछे का खेल कुछ और ही होता है। 'रामकुमार के जीवन का एक दिन' एक ऐसी कहानी है, जहाँ रामकुमार नाम का एक राजनीतिक कार्यकर्ता दूसरों के जीवन की समस्याओं को सुलझाने में खुद को झोंक देता है। इस प्रक्रिया में रामकुमार का खुद का पारिवारिक व दांपत्य जीवन बुरी तरह प्रभावित होता है। उसका पत्नी के साथ रिश्ता तकनीकी विकास के इस समय में आर्थिक विकास के बरक्स आम आदमी की भूख के शाश्वत सवाल को खड़ा करता है।

'ग़रीबनवाज़' कहानी का मुख्य किरदार विश्वमोहन विदेश से पढ़कर आता है। वह देखता है कि उसके साफ-सुथरे ऑफिस की प्रवेश करने वाली गली में ही एक दुकान 'ग़रीबनवाज़ चिकन शॉप' खुल जाती है। उस दुकान की उपस्थिति से असहज होकर वह इसकी पुलिस में शिकायत कर देता है। इसके बाद कहानी में गली के गुंडों और शहर के वकील की एंट्री होती है और यह मामला अदालत में चला जाता है। इस संबंध में जज विश्वमोहन से कहते हैं कि आपकी इस हरकत से शहर में दंगा हो सकता था। अदालत से लौटने के बाद विश्वमोहन को गहरा पराजय बोध होता है।

'रेस्तराँ में दोपहर' कुछ युवा दोस्तों के बीच आए दिन शहर के एक सुरम्य-से प्राकृतिक खूबसूरती भरे रेस्तराँ में समय बिताने की कथा है। कथा संवादों के माध्यम से चलती है। कथा में प्रेम की सहज अभिव्यक्ति संकेतों के माध्यम से है। यह कहानी रीतिकाल में अटके हुए और कुछ नया न पढ़ने वाले अध्यापकों पर तंज करती है, जो अपना सारा समय शोध में ही गुजार देते हैं। किसी भी क्षेत्र में नए विचारों का संधान होते रहना जरूरी है।

एक और कहानी का शीर्षक है—'लेखक बनाने वाले'। यह कहानी पढ़ते हुए मुझे याद आया कि आठवें दशक के दौरान नई दिल्ली में पत्रकारिता महाविद्यालय और कहानी-लेखन महाविद्यालय, अंबाला छावनी के विज्ञापन आया करते थे। ये विज्ञापन इतने लोक-लुभावन होते थे कि कई नौजवान इनके जाल में फँसकर मोटी फीस चुकाते और फिर भी लेखक न बन पाते। कहानी पढ़ते हुए साफ-साफ लगा कि लेखक का कहना है कि अभ्यास व खुद की अनुभूतियों और अनुभवों से ही लेखक बना जा सकता है, न कि मात्र कोई प्रशिक्षण लेकर। इस कहानी का स्वर व्यंग्यात्मक भी है। 'चेरी और नाना' चेरी, नाना और हो ची मिन्ह, तीन पीढ़ियों के बीच संवाद की अनूठी कथा है, जिसमें एक छोटी बच्ची और नाना के बीच यह कहानी लिखी गई है। छोटी बच्ची की शिक्षा से संबंधित जिज्ञासाएँ और नाना के उत्तर उस बच्ची की बालसुलभ जिज्ञासाओं से कुछ अलग ही मानस का निर्माण करती है। ऐसी कहानियाँ कम ही लिखी जाती हैं, जिसमें बच्चों को केंद्र में रखा जाए। ऐसे में यह कहानी बाल मनोविज्ञान की कहानी भी कही जा सकती है, जो कि किसी भी पाठक के मन को स्पर्श कर लेती है। यह कहानी विधा का अतिक्रमण कर यात्रा-वृत्तांत शैली में लिखी गई है।

इस संग्रह में शामिल सपनों की दुनिया में 'ब्लैकहोल' एक लंबी कहानी है, जो कि हमारे समय का खुला यथार्थ है। मगर 'शेक्सपियर को याद रखना' एक समर्पित नाटक-निर्देशक की कहानी है, जो कला के लिए खुद को झोंक देता है। संतोष चौबे की कहानियाँ जिंदगी के रोजमर्रापन में न जाकर उसकी बारीकी, जटिलताओं, संघर्षों को पकड़ने की कोशिश करती हैं। ये कहानियाँ हमारे समाज की कहानियाँ हैं, जिनके पात्र असल जिंदगी से हैं। सामान्य जीवन में लोग अपना सुख-दुख अपने ढंग से जीते हैं, बयाँ करते हैं, झेलते और भुगतते हैं। जीवन का यही सार संतोष जी की कहानियों में बिखरा मिलता है। कहानियों के चरित्र, सहज भाषा, शैली, संवाद, चित्रण आदि किसी भी पाठक को अपने साथ बाँधे रख पाने में समर्थ है, यही उनकी कहानियों की पूँजी और ताकत है।

समीक्षक : **डॉ. शिवजी श्रीवास्तव**

लेखक : **पंकज चतुर्वेदी**

प्रकाशक : पेंगुइन स्वदेश, गुरुग्राम, हरियाणा-122002

पृष्ठ : 324

मूल्य : रु. 350/-

मेरे भगत सिंह

भारत की आजादी के लिए अपने जीवन का बलिदान करने वाले क्रांतिकारियों में भगत सिंह एक ऐसे क्रांतिकारी रहे हैं, जिन्होंने अपने विचारों और बलिदान द्वारा क्रांतिकारी आंदोलन को एक नया आयाम दिया। वे केवल एक शहीद ही नहीं, अपितु एक वैचारिक आंदोलन के प्रतीक हैं। उनके जीवन और दर्शन पर अनेक विद्वानों द्वारा विविध विधाओं में अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। प्रत्येक कृति अपने में महत्वपूर्ण है, किंतु इस विलक्षण क्रांतिकारी के चरित्र में कुछ ऐसा विशिष्ट आकर्षण है कि सब कुछ जान लेने के बाद भी लगता है बहुत कुछ जानने को शेष है। उसी 'बहुत कुछ' जानने की जिज्ञासा पंकज चतुर्वेदी की कृति 'मेरे भगत सिंह' के निकट आकर संतुष्ट होती है। चतुर्वेदी जी ने भगत सिंह के साथ 'मेरे' विशेषण जोड़ा है। यह 'मेरे' अत्यंत व्यापक भाव का द्योतक है। राष्ट्र के प्रत्येक क्रांतिचेता को भगत सिंह अपने ही प्रतीत होते हैं और पुस्तक सभी ऐसे सजग पाठकों का भगत सिंह से तादात्म्य स्थापित कराती है।

पुस्तक की 'भूमिका' में ही लेखक ने स्पष्ट किया है कि भगत सिंह एक 'व्यक्ति' से 'विचार' कैसे बन गए। इस प्रश्न ने उन्हें इस कृति को लिखने की प्रेरणा दी। निस्संदेह, यह पुस्तक इस उद्देश्य की ओर ले जाती है कि भगत सिंह एक विचार कैसे बने। इस खोज में लेखक ने भगत सिंह के जीवन से जुड़े प्रत्येक व्यक्ति के नजरिये से भगत सिंह को देखा, भगत सिंह के संपर्क में आए प्रत्येक व्यक्ति के भगत सिंह के बारे में जो विचार हैं, उन्हें इस कृति में रखकर भगत सिंह की एक मुकम्मल तस्वीर बनाई है।

'पूत के पाँव पालने में', 'कॉमरेड्स या साथी क्रांतिकारी', 'राजनेता' तथा 'मीडिया विमर्श' शीर्षकों से चार खंडों में विभक्त 324 पृष्ठों की यह पुस्तक अनेक अर्थों में विशिष्ट है। इन खंडों में क्रमशः भगत सिंह के परिवार और प्रारंभिक जीवन से जुड़े लोगों द्वारा भगत सिंह के विषय में दी गई जानकारी है, उनके क्रांतिकारी जीवन के साथियों के भगत सिंह के विषय में व्यक्त विचार हैं। भगत सिंह की फाँसी को सजा घोषित होने से फाँसी होने के बाद तक तत्कालीन प्रसिद्ध राजनेताओं के विचारों के साथ ही देश-विदेश की मीडिया में आए उन समाचारों का वर्णन है, जो भगत सिंह की फाँसी के पश्चात हुई हलचल को देश-विदेश की मीडिया ने प्रसारित किए थे।

संपूर्ण कृति में अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों के स्मृति-चित्र हैं, उनके अनुभव हैं, जो भगत सिंह के किसी वैशिष्ट्य को उद्घाटित करते हैं। जिन व्यक्तियों के साथ भगत सिंह का जुड़ाव रहा, उनमें भगत सिंह के गुरु रहे लाहौर नेशनल कॉलेज के प्रिंसिपल छबील दास का नाम उल्लेखनीय है। छबील दास जी के भगत सिंह से जुड़ाव की स्मृतियाँ उनकी पुत्री मनोरमा दीवान के माध्यम से दी गई हैं। अन्य महत्वपूर्ण स्मृति-चित्रों में द्वारका दास पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री राजाराम शास्त्री के अनुभव हैं। 'भगत सिंह के परिवार' के लोगों में प्रो. जगमोहन सिंह द्वारा लिया गया भगत सिंह की माँ विद्यावती का साक्षात्कार अत्यंत महत्वपूर्ण है। संपूर्ण साक्षात्कार अत्यंत मर्मस्पर्शी और द्रवित करने वाला है, साथ ही भगत सिंह के भाई कुलतार सिंह की बेटी वीरेंद्र संधु ने अपने आलेख में भगत सिंह के व्यक्तित्व का चित्रण बड़े मार्मिक रूप में किया है। उन्होंने भगत सिंह के व्यक्तित्व का विवेचन करते हुए लिखा है—'भगत सिंह के साहसी क्रांतिकारी व्यक्तित्व को एक तरफ रखकर हम उनके व्यक्तित्व को स्वभाव के शीशे में देखें, तो वे एक सरस, सजीव, हँसोड़, दिल्लगीबाज, सहृदय, संतुलित और उदार मानव थे।'

वीरेंद्र संधु का यह छोटा-सा वाक्य भगत सिंह के उनके जीवंत चरित्र की झाँकी सामने लाता है, जिसके अनेक उदाहरण उनके कॉमरेड साथियों के संस्मरणों में भी विद्यमान हैं। क्रांतिकारी साथी शिव वर्मा, भगवान दास माहौर, अजय कुमार घोष, विजय कुमार सिन्हा, जितेन्द्रनाथ सान्याल, यशपाल, बटुकेश्वर दत्त, दुर्गा भाभी इत्यादि साथियों के आलेख/ अनुभव/ वक्तव्य भगत सिंह के किसी अछूते पक्ष पर प्रकाश डालते हैं। दुर्गा भाभी का भगत सिंह के विषय में विचार द्रष्टव्य है—'23 वर्ष की आयु में ही भगत सिंह ने किस प्रकार अपने को योग्य एवं अनुकरणीय बना लिया था, यह सराहनीय है। वह भावुक हृदय था, सफल लेखक और प्रभावशाली वक्ता। उसके व्यक्तित्व, व्यवहार, दोनों में आकर्षण था। वास्तव में, वह एक ऐसा योगी था, जो जीवन में डूबकर तैरना जानता था।'

सारा विश्व भगत सिंह को एक दुर्धर्ष बलिदानी क्रांतिकारी के रूप में पहचानता है, जिसने सांडर्स का वध किया, असेंबली में बम विस्फोट किया और अंतिम साँस तक अंग्रेजी सत्ता के समक्ष एक चुनौती के रूप में खड़ा रहा। यह स्वरूप ही प्रायः इतिहास में चित्रित हुआ है, पर उसके साथ ही वह एक सामान्य नवयुवक था, उसके अंदर भी एक कोमल हृदय था, भाव लोक था और संपूर्ण मानवता की बेहतरी के लिए एक स्वप्न था। भगत सिंह के उस समग्र चरित्र को अनेक बिंदुओं से यह पुस्तक सामने लाती है।

पुस्तक के अंतिम दो खंड अत्यंत महत्व के इसलिए हैं, क्योंकि प्रायः भगत सिंह के बलिदान के बाद अधिकतर जीवनी-लेखक इसी स्थल तक भगत सिंह की जीवनी को पूर्ण मान लेते हैं, किंतु भगत सिंह के बलिदान के बाद विश्व में किस प्रकार की उथल-पुथल हुई, विश्व मीडिया और विश्व के बड़े नेताओं की क्या प्रतिक्रिया हुई, इसका उल्लेख प्रायः अलिखित ही रहा है। पंकज जी ने देश-विदेश की मीडिया के तत्कालीन समाचारों/ टिप्पणियों को पाठकों के सम्मुख रखने का जो कार्य किया, वह अत्यंत महत्वपूर्ण है।

निःसंदेह, यह भगत सिंह के जीवन पर लिखी एक ऐसी अमूल्य कृति है, जो भगत सिंह के जीवन के लगभग समस्त अध्यायों को खोलती है। संक्षिप्त समीक्षा में इसकी संपूर्ण विशेषताओं को उद्घाटित करना संभव नहीं है। हर क्रांतिचेता देशभक्त के लिए यह एक अनिवार्य और पठनीय कृति है। इसे पढ़ने के पश्चात महान क्रांतिकारी के जीवन से समग्र रूप से साक्षात्कार किया जा सकता है।

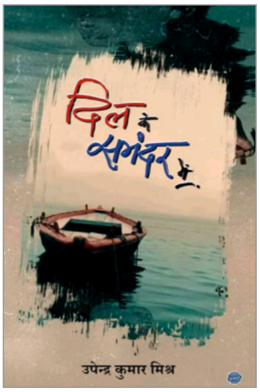

समीक्षक : **डॉ. डी.एम. मिश्र**

ग़ज़लकार : **उपेंद्र कुमार मिश्र**

प्रकाशक : सर्व भाषा ट्रस्ट, नई दिल्ली-110059

पृष्ठ : 136

मूल्य : रु. 270/-

दिल के समंदर में

(ग़ज़ल-संग्रह)

समकालीन हिंदी ग़ज़ल ने पारंपरिक प्रेम और शृंगार की सीमाओं से बाहर निकलकर आज के मनुष्य के जीवन-संघर्ष, सामाजिक विडंबनाओं और बदलते समय की बेचैनी को अपनी अभिव्यक्ति का केंद्र बनाया है। इसमें आम आदमी की पीड़ा, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, राजनीतिक छल, महँगाई, हिंसा, आतंक, सांप्रदायिकता तथा नैतिक मूल्यों के क्षरण जैसे विषय प्रमुखता से समाहित किए जाते हैं। समकालीन ग़ज़लकार लोकतंत्र की विसंगतियों, सत्ता के दुरुपयोग और व्यवस्था की असमानताओं पर तीखे प्रश्न उठाते हैं। ऐसी ग़ज़लों के दौर में उपेंद्र कुमार मिश्र अपने पहले ग़ज़ल-संग्रह 'दिल के समंदर में' से अपनी जोरदार उपस्थिति दर्ज कराते हैं।

इन ग़ज़लों की भाषा अपेक्षाकृत सरल, बोलचाल के निकट और जन-सामान्य से जुड़ी हुई है, जिससे इनका प्रभाव व्यापक होता है। बाजारवादी मानसिकता पर तीखा व्यंग्य करते हुए ग़ज़लकार कहता है कि आज लोग अपने व्यक्तित्व, संबंधों और भावनाओं तक को 'बाजार' बना चुके हैं। हर व्यक्ति स्वयं को बेचने, प्रचारित करने और दूसरों पर प्रभाव जमाने में लगा है। सामाजिक-राजनीतिक विडंबना, जनवेदना और सत्ता के पाखंड पर तीखा व्यंग्य करती कुछ पंक्तियाँ—

वाजिब क़ीमत मिलेगी, बिक जाओ
किस्मत तेरी खुलेगी, बिक जाओ

ग़ज़लकार ने पर्यावरण के विनाश की चिंता भी इस संग्रह के कई शेरों में की है। कैसे जंगल काटे जा रहे हैं, पर्वतों का दोहन हो रहा है और नदियों का प्रदूषण बढ़ रहा है—

जंगल उजड़ रहे हैं, पर्वत, नदी, सिसकते
अब दम घुटे हवा का दोषी किसे बताऊँ

इनकी ग़ज़लों में गाँव केवल भौगोलिक स्थान नहीं, बल्कि भारतीय जीवन, संस्कृति और संवेदना का प्रतीक बनकर उभरता है। यहाँ खेत, खलिहान, चौपाल, किसान की पीड़ा, पलायन, गरीबी, टूटते रिश्ते और बदलती ग्रामीण व्यवस्था का मार्मिक चित्रण मिलता है। गाँव की सरलता और संघर्ष ग़ज़लों को गहरी मानवीय संवेदना प्रदान करते हैं। हालाँकि, गाँव भी अब पहले जैसे गाँव नहीं रह गए। रहन-सहन, रीति-रिवाज, जीवन शैली अब कुछ भी पहले जैसा नहीं दिखता। गाँव के वो गीत, गाने, फाग, कजरी लोग गूगल और यूट्यूब पर ढूँढ़ते फिरते हैं। उपेंद्र कुमार मिश्र के शब्दों में—

वहाँ ताल, पोखर, चलो गाँव मेरे।
बगीचा सरोवर, चलो गाँव मेरे।
कभी नाच-गाना, कभी फाग, कजरी
सुनो खूब सोहर चलो गाँव मेरे।

कवि उपेंद्र कुमार मिश्र ने पुस्तक के प्रारंभ में ही लिखा है, "ग़ज़ल लिख पाना मेरे वश की बात नहीं। उसके व्याकरण के बारे में मैं कुछ नहीं जानता। उसकी बारीकियों के बारे में जान पाना तो बहुत दूर की बात है। यह मेरी नहीं, मेरे मन की धृष्टता है, जो माना नहीं और अज्ञानी होते हुए भी ग़ज़ल लिखने की कोशिश करने लगा। मेरा दोष केवल इतना भर है कि ग़ज़ल लिखने के लिए मचल रहे मन को मैं रोक नहीं सका।" यद्यपि जैसा मिश्र जी कह रहे वैसा है नहीं। बेशक ग़ज़ल का व्याकरण बहुत ही विशद और दुरूह है, शायद ही ऐसा कोई ग़ज़लकार अभी तक हुआ है, जिसके यहाँ गलतियाँ न मिलें।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि उपेंद्र कुमार मिश्र की यह विनम्र स्वीकारोक्ति उनकी रचनात्मक ईमानदारी का प्रमाण है, न कि अक्षमता का। ग़ज़ल केवल नियमों का गणित नहीं, बल्कि संवेदना, लय और अभिव्यक्ति की कला भी है। उनके इन शेरों को पढ़कर यह महसूस नहीं होता कि वे ग़ज़ल की आत्मा से अनभिज्ञ हैं। वह एक शेर में यह बात पुष्ट करते हैं—

दोष ढूँढ़ते क्यों मात्रा या वर्णों में।
छंद बँध सका कब मन का व्याकरणों में।

श्री मिश्र जी, 'समकालीन अभिव्यक्ति' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका के संपादक हैं और उसकी गुणवत्ता बरकरार रखते हुए अनवरत 23 वर्षों से निकालते आ रहे हैं। इसके अतिरिक्त, उनके तीन कविता-संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। यह उनका पहला ग़ज़ल-संग्रह है, इसलिए उम्मीद की जा सकती है कि वह ग़ज़ल को अपनी लेखनी से आगे और अधिक समृद्ध करेंगे।

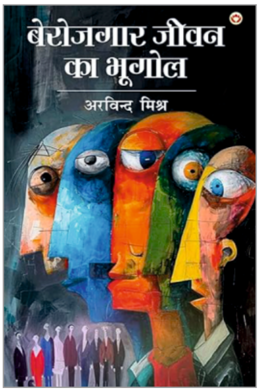

बेरोजगार जीवन का भूगोल

(व्यंग्य-संग्रह)

समीक्षक : **सुमन कुमार सिंह**

लेखक : **अरविंद मिश्र**

प्रकाशक : डायमंड बुक्स (प्रा.) लि., ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, नई दिल्ली

पृष्ठ : 119

मूल्य : रु. 200/-

लेखक अरविंद मिश्र का व्यंग्य-संग्रह 'बेरोजगार जीवन का भूगोल' हमारे समाज, राजनीति और रोजमर्रा की जद्दोजहद का एक बेहद कड़वा यथार्थ है। इस संग्रह का मूल स्वर शोषित और संघर्षरत आम आदमी की पीड़ा है। छोटे-छोटे सधे शब्दों में लिखे संग्रह के अनेक महत्वपूर्ण व्यंग्य हमारा ध्यान खींचते हैं। संग्रह की रचनाएँ लेखक के निज परिवेश से होकर सामाजिक परिवेश तक का दायरा तय करती दिखती हैं। 'बेचारा गरीबदास' के माध्यम से लेखक ने उस वंचित वर्ग को उकेरा है, जिसकी कोई नहीं सुनता और जो हमेशा नेताओं और अमीरों की स्वार्थपूर्ति का साधनमात्र बनकर रह जाता है। वहीं, शीर्षक रचना 'बेरोजगार जीवन का भूगोल' बेरोजगारी के दर्दनाक सच को दर्शाती है, जिसमें दयाराम जैसे युवा समाजशास्त्र में एम.ए. जैसी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद रोजगार कार्यालयों के चक्कर काटने और अंततः पान की दुकान चलाने को मजबूर हैं। यह कहानी मौजूदा समाज की विडंबना को उद्घाटित करने में सफलता हासिल करती है।

लेखक ने नेताओं की अवसरवादिता और सरकारी तंत्र की चापलूसी की प्रवृत्ति पर करारा प्रहार किया है। 'टिकिट एक, अभिलाषाएँ अनेक' में दिखाया गया है कि कैसे बिना किसी सामाजिक सरोकार के हर व्यक्ति चुनाव लड़कर राजनेता बनने की लालसा रखता है। 'भीड़ बिना सब सून' राजनेताओं की उस प्रवृत्ति पर व्यंग्य है, जहाँ उनकी सफलता का पैमाना उनके द्वारा जुटायी गई भीड़ होती है और लोकतंत्र वास्तव में 'भीड़तंत्र' बन गया है। प्रशासनिक स्तर पर, 'नए साहब का आगमन' दफ्तरशाही की उस संस्कृति को बेनकाब करता है, जहाँ कर्मचारी फाइलों का काम छोड़कर नए बॉस की जी-हुजूरी करने, उनके मकान ढूँढ़ने और बच्चों के एडमिशन कराने में अपनी भलाई समझते हैं। 'अथ श्री बाढ़ राहत कथा' आपदाओं के समय नेताओं के हवाई दौरों, घड़ियाली आँसुओं और किसी राज्य में पुलों के बनते ही ढह जाने जैसी प्रशासनिक विफलताओं पर गहरी चोट करता है।

यह संग्रह व्यवस्था की नाकामी और महँगाई पर भी प्रहार करता है। 'आम आदमी का तेल' महँगाई की उस मार का सटीक चित्रण है, जहाँ सत्ता और बाजार मिलकर आम आदमी की जेब खाली करते हैं। 'सर्वभक्षी होने का फायदा' समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार की ओर इशारा करता है, जहाँ लोग पराया माल हड़पकर डकार तक नहीं लेते। इसके अतिरिक्त, लेखक समसामयिक विषयों और सामाजिक विडंबनाओं पर भी गहरी नजर रखते हैं। 'कोरोना है किस खेत की मूली?' में महामारी के खौफ को भारतीय देसी ठसक और गालियों के माध्यम से कम करने का प्रयास किया गया है। 'खबरदार! आप में से कोई बुद्धिजीवी तो नहीं' आज के दौर का एक बहुत ही सटीक व्यंग्य है, जो बताता है कि कैसे आज के समय में 'बुद्धिजीवी' होना एक अपराध-सा बन गया है और 'मूर्खजीवी' बनकर रहने में ही भलाई समझी जाने लगी है।

पर्यावरण और रिश्तों की बात करें तो, जहाँ एक ओर 'हे मानसून! तुम कब आओगे' और 'रहिमन पानी राखिए' जैसी रचनाओं में घटते जंगल और जल-संकट की चिंता झलकती है, वहीं 'अनशन का अल्टीमेटम' में पति-पत्नी के रिश्तों के बीच पनपती भौतिकवादी माँगों—जैसे कि हर महीने महँगी साड़ी और नई कार की फरमाइश को हास्य के आवरण में लपेटा गया है।

अरविंद मिश्र की भाषा ठेठ, मुहावरेदार और आम जनमानस के बहुत करीब है। वे जीवन की उन विसंगतियों को पकड़ते हैं, जहाँ एक आम आदमी तिल-तिलकर मरता है, पर व्यवस्था उस पर हँसती है। समाज का वास्तविक यथार्थ इसमें स्पष्टतः उभरकर सामने आता है। कुल मिलाकर, यह व्यंग्य-संग्रह आपको गुदगुदाता तो है, लेकिन हँसी के शांत होने के बाद जो पीछे छूट जाता है, वह व्यवस्था के प्रति एक गहरा आक्रोश और सोचने पर मजबूर कर देने वाला यथार्थ है। एक तरह से, यह मोहभंग का संग्रह बन पड़ा है। इसमें हँसी के साथ पीड़ा को अनुस्यूत कर प्रस्तुत किया गया है। निस्संदेह, यह एक पठनीय पुस्तक है।

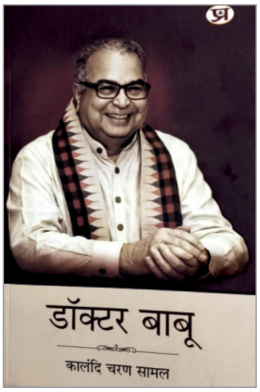

समीक्षक : **सूर्यकांत शर्मा**

लेखक : **कालंदि चरण सामल**

अनुवाद : **डॉ. समन्वय नंद**

प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, दिल्ली गेट, नई दिल्ली-110002

पृष्ठ : 214

मूल्य : रु. 350/-

डॉक्टर बाबू

यह उपन्यास मूलतः ओड़िआ भाषा में डॉ. देवेंद्र प्रधान के साथ कई दशकों तक साथ रहे, श्री कालंदि चरण सामल के द्वारा लिखा गया है। ओड़िआ भाषा जानने वाले जन आम तौर पर इस विभूति से अच्छे से परिचित हैं। राष्ट्रभाषा के करोड़ों भारतीय और समूचे विश्व में फैले भारतीय समुदाय को सूचित और गौरवान्वित करने हेतु इस कृति का अनुवाद डॉ. समन्वय नंद ने यथारूप करने का सहज और सफल प्रयास किया है।

यह उपन्यास एक अलग या विरल अंदाज में लिखा गया समय का प्रामाणिक दस्तावेज प्रतीत होता है, जिसमें डॉक्टर देवेंद्र प्रधान यानी डॉक्टर बाबू अपने जगन्नाथ भगवान के आदर्शों के साथ अपनी कर्मयात्रा के साथ सजीव रूप से विभूषित हैं। जैसा कि अभी-अभी लिखा कि विरल उपन्यास! जी हाँ, लीक से हटकर लिखा गया जीवन कर्मवृत्त न होकर, डॉक्टर साहब के संगी-साथियों, अभिभावकों, जीवन-यात्रा में आए कामगार, किसान, साधु-संत, संन्यासी, परिवारजन, लेखक, पत्रकार, विरोधी और समर्थक—सभी के उद्गारों को प्रमुखता से स्थान देता हुआ उपन्यास। एक जीवनवृत्त न होकर एक विचार-यात्रा का फैलाव और प्रसार लिये हुए है यह उपन्यास। लगभग छह-सात दशकों का साक्षी रहा डॉक्टर बाबू के जीवन पर बहुत कम, परंतु उनके त्याग, संघर्ष, विचार और कर्म की दृढ़ता को रेखांकित करता है यह उपन्यास। कालाहांडी के अकाल की विभीषिका को शब्दशः जीने वाला करुण प्रसंग और फिर उसके समाधान के साथ-साथ उस समय की तत्कालीन बीजू पटनायक सरकार की अक्षमता का वर्णन पाठकों को सत्तारूढ़ राजनैतिक पार्टी का असली चेहरा दिखा सकने में सक्षम रहा है।

डॉ. प्रधान पार्टी के एक समर्पित, अनुशासित और ओड़िशा में प्रणेता रहे हैं। यह कृति डॉ. प्रधान के समूचे व्यक्तित्व और कार्यों को बेहद संजीदगी के साथ-साथ जीवंतता से प्रस्तुत करती है। परिवार पर बहुत ही कम फोकस रखा गया है। हाँ, उनकी पत्नी श्रीमती वसंत मंजरी पर कुछ सामग्री दी गई है और वह भी तब, जब कुशाभाऊ ठाकरे एक दिन डॉ. प्रधान के घर जाकर उनकी पत्नी को कहते हैं कि डॉ. प्रधान अब देश के लिए काम कर रहे हैं और वे घर पर बस मुख्य त्योहारों, होली और दिवाली पर ही आया करेंगे। अतः अब आप अपनी घर की व्यवस्था स्वयं सँभालेंगी।

इस उपन्यास में ओड़िआ भाषा-संस्कृति के साथ-साथ, वहाँ की समस्याओं, मनोविज्ञान का भी सुंदर वर्णन मिलता है। यथा—डॉ. प्रधान के चुनाव-अभियान में एक चुनाव रैली के संबोधन से पहले कांग्रेस पार्टी के कार्यकर्ताओं द्वारा उनका मंच तोड़ दिया जाना, और उनका जीप सरीखे वाहन के बोनट पर खड़े होकर बेहद संयमित, परंतु शांत भाव से अपनी बात को कहना और फिर अपने साथियों को समझाना कि हम सब भगवान जगन्नाथ के प्रिय भूमि से हैं, अतः हमें प्रतिशोध, झगड़ा और हिंसा की प्रतिहिंसा सरीखी दुष्प्रवृत्तियों से दूर रहना है।

ओड़िशा राज्य सदैव से ही शांतिप्रिय, परंतु स्वाधीनता प्रेमी जनसमूह का आश्रयस्थल रहा है और आदिवासी समुदाय उसकी धुरी और आकर्षण, दोनों ही है। उपन्यास में स्थान-स्थान पर आश्रमों और योगाश्रमों का उल्लेख इसकी पुष्टि भी करते हैं। इस कृति में उपन्यास के नायक का कभी भी महिमामंडन नहीं हुआ है और यह इस बात का परिचायक है कि डॉ. प्रधान कभी भी आत्म-प्रचार या आत्मवंचना से ग्रसित तो क्या, प्रभावित भी नहीं हुए। उनका पहले एक चिकित्सक के रूप में जनसेवा करना, बाद में भारतीय जनता पार्टी में आना भी एक नजीर साबित हुआ है।

इस उपन्यास में उनके परिवार और मूल ग्राम, यथा नालाम, माता-पिता, भाई या संतानों का केवल इंगित मात्र ही संकेत प्राप्त होता है। यदि सार रूप में देखें तो यह उपन्यास डॉ. देवेंद्र प्रधान की जीवन-यात्रा के साथ-साथ ओड़िशा राज्य की विकास-यात्रा, उसकी सांस्कृतिक विरासत और धरोहर को बड़ी सहजता और स्वाभाविकता से पाठकों तक पहुँचाता है।

यदि पुस्तक के अनुवादक की बात न हो तो यह अनुवाद की आत्मा के प्रति अन्याय ही होगा। डॉ. समन्वय नंद ने हिंदी भाषा के अनुरूप इस कृति को उम्दा रूप में अनूदित कर हिंदी भाषा के पाठकों को उत्तम उपहार दिया है।

ऐतिहासिक और प्रामाणिक दस्तावेजी उपन्यास, जिसका अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद, 'एक भारत श्रेष्ठ भारत' की अवधारणा को देश-विदेश में एक साथ संपुष्ट करेगा।

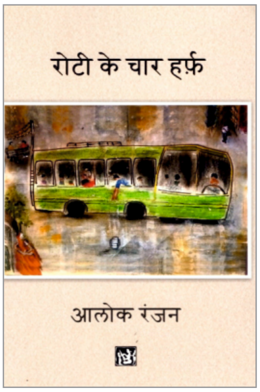

समीक्षक : **रमेश कुमार सिंह**

लेखक : **आलोक रंजन**

प्रकाशक : लोकभारती पेपरबैक्स, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश-211001

पृष्ठ : 144

मूल्य : रु. 250/-

रोटी के चार हर्फ़

(कहानी-संग्रह)

'रोटी के चार हर्फ़' युवा कथाकार आलोक रंजन की ग्यारह कहानियों का संग्रह है। इन कहानियों से आलोक की पहचान एक प्रखर दृष्टि वाले रचनाकार के रूप में बनती है।

इस संग्रह की कहानियों के देश-काल और पृष्ठभूमि में विविधता है। किंतु इसकी कई कहानियाँ प्रेम कहानी कही जा सकती हैं। प्रेम इनमें केंद्रीय तत्व है, किंतु परिधि की परिस्थितियाँ उसे विचलित करने में लगी हैं। इनमें प्यार के गम हैं, तो रोजगार के भी गम हैं। इन कहानियों में दुनियावी गमों से परेशान लोग प्यार की छाँह में पनाह पाने की कोशिश करते हैं, मगर नाकाम होते हैं। ये प्रेम में वियोग और विफलता की कहानियाँ हैं।

'इस दुनिया के किनारे' कहानी में दो एकाकी बुजुर्ग संयोगवश एक-दूसरे के करीब आते हैं। प्रेम-अतृप्त, हालात के मारे, परिवार से परित्यक्त ये लोग अपनी जिंदगी की शाम में हैं। वृद्ध पुरुष में प्यार के लिए किशोरों जैसा उत्साह, उत्सुकता और ललक है, और थोड़ी 'नासमझी' भी। दूसरी तरफ, वृद्धा में जीवन और जगत के कटु अनुभवजनित 'समझदारी' है। यहाँ स्त्री के द्वारा प्रेम के अस्वीकार को पुरुष सहन नहीं कर पाता, वह टूटा हुआ दिल लेकर कहीं दूर चला जाता है। उसकी यह प्रतिक्रिया उसकी उम्र को देखते हुए भी अतार्किक, अव्यावहारिक और असंगत नहीं लगती।

'स्वाँग से बाहर' कहानी में प्यार के रिश्तों में अस्थिरता है, स्थायी विकल्प की तलाश है, जो कि मृगतृष्णा है। 'हम ब्रेक पर हैं' कहानी प्यार में ठहरे हुए अथवा भागते हुए, आहत अथवा राहत महसूस करते हुए पात्रों की कहानी है। यह भौगोलिक दूरी के कारण प्रेम में पसरती मानसिक दूरी और मजबूरी की भी कहानी है। रोटी जिंदगी की बुनियादी जरूरत है, अस्तित्व का प्रश्न है। लेकिन प्यार भी एक बुनियादी जरूरत है। दोनों जरूरतों में सामंजस्य बिठाने में जिंदगी का संतुलन बिगड़ रहा है। 'खरपतवार और फूल' कहानी में प्यार का फूल जीवन के खरपतवार द्वारा विस्थापित हो जाता है। यहाँ 'बोया था गुलाब, मगर उग आई ये नागफनी' जैसी हैरानी है। 'ब्राइट बातें' भी स्वप्नभंग की कहानी है।

'रोटी के चार हर्फ़' अपनी जड़ों से उखड़ने और विस्थापन की कहानी है। प्रवासी मजदूरों के दुख और संघर्ष सिर्फ रोजी-रोटी तक सीमित नहीं होते। उन्हें कई तरह के अपमान और गैर-बराबरी के व्यवहार सहने पड़ते हैं। यहाँ रोटी एक बहुआयामी प्रतीक है, अतीत का मोह, रोजगार का संकट, विस्थापन का दर्द और समायोजन के संघर्ष आदि का प्रतीक।

'तलईकुत्तल' इस संग्रह की सबसे मार्मिक कहानी है। यह तमिलनाडु के पिछड़े इलाकों में प्रचलित, समाज और परिवार द्वारा अनुपयोगी तथा अनुत्पादक मान लिये गए वृद्ध, अशक्त, रुग्ण और असहाय सदस्यों की सुनियोजित हत्या की क्रूर कुप्रथा की कहानी है। गझिन बुनावट वाली यह बहुस्तरीय कहानी पाठक को झकझोरकर रख देती है। यहाँ आलोक पानी के संकट और पर्यावरण के प्रश्न को भी मानवता के संकट से जोड़कर देखते हैं। कहानी में निराशा और करुणा की एक अंतर्धारा स्पष्ट दिखाई देती है।

आलोक अपनी कहानियों में बिना लाउड हुए, बहुत शांत तरीके से बड़ी-से-बड़ी बात कह देते हैं। जैसे, अपनी शक्ति को शोषण के टूल के रूप में इस्तेमाल करता हुआ कथानक का एक टुच्चा आदमी कैसे 'एक महत्वपूर्ण आदमी' हो जाता है। ऐसे ही, समानुभूति (एंपैथी) के कारण किस तरह कोई किसी और के दुख को अपने ऊपर ले लेता है, कहानी 'वापस लौटते हुए' यह दिखाती है।

आलोक की कहानियों में परिवेश एक पात्र की तरह उपस्थित होता है। वह पात्रों को देखता-सुनता-समझता है, उनसे क्रिया-प्रतिक्रिया करता है। उनकी कहानियों की कहन और घटनाक्रम में कोई अति नाटकीयता नहीं दिखती। संवाद सामान्यतः सहज हैं। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो कहानियों के पात्र वैसी ही भाषा बोलते हैं, जैसा जीवन में बोला जाता है। पढ़ने के बाद इनके कई वाक्य स्मृति में बस जाते हैं। इन कहानियों के पात्र निम्न वर्ग अथवा निम्न मध्यम वर्ग के हैं। जिंदगी द्वारा छले गए, टूटते-बिखरते हुए खुद को समेटने में लगे इन पात्रों में कुंठा और तनाव है, तो उन्मुक्त भावनाएँ भी। ये अपने वर्ग स्वभाव और सीमाओं से कुछ अलग करने के प्रयास के कारण विशिष्ट दिखते हैं।

आलोक की दृष्टि व्यक्ति और समाज के अंतर्विरोध को देख लेती है। वह व्यक्ति और प्रकृति के अंतर्संबंध को भी तलाश लेते हैं तथा उसके वर्णन में नियंत्रित रहते हैं, भावनाओं के अतिरेक से बचते हैं। वे बिंबों और प्रतीकों द्वारा दृश्य-दर-दृश्य शब्दचित्र खींचते हैं।

यह आलोक का पहला कहानी-संग्रह है। इसे पढ़कर लगता है कि इसमें उनकी कुछ शुरुआती कहानियाँ भी हैं। लेकिन इन कहानियों में भी आलोक संभावना-संपन्न कहानीकार दिखते हैं।

समीक्षक : **ज्योत्सना कुमारी**

लेखक : **प्रभात रंजन**

प्रकाशक : राजपाल ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

पृष्ठ : 112

मूल्य : रु. 182/-

हिंदी मीडियम टाइट

वरिष्ठ लेखक और अनुवादक प्रभात रंजन द्वारा लिखित पुस्तक 'हिंदी मीडियम टाइट' दिल्ली के अकादमिक जगत में व्याप्त भाषायी भेदभाव तथा इससे पैदा होने वाले अंतर्विरोधों को पाठकों के सामने रखती है। लेखक ने संस्मरणात्मक शैली में अपने कॉलेज के दिनों में हिंदी पट्टी से आए और अंग्रेजी में हाथ तंग रखने वाले विद्यार्थियों की कहानी अत्यंत रोचक तरीके से प्रस्तुत की है। पुस्तक में अलग-अलग संस्मरण सम्मिलित हैं तथा आखिर में लेखक ने हिंदी में लगातार बढ़ रही संभावनाओं को भी इंगित किया है। पुस्तक के आरंभ में 'भूमिका' के रूप में प्रो. गरिमा श्रीवास्तव द्वारा पुस्तक की विषय-वस्तु के बारे में विचार प्रस्तुत किया गया है, और आखिर में प्रो. रविकांत ने भी पुस्तक की विषय-वस्तु के संदर्भ में खुद अपने विद्यार्थी तथा शिक्षक-जीवन के अनुभवों को साझा किया है।

पुस्तक का शीर्षक लेखक के अतीत के अनुभवों से आता है, और यह इस पुस्तक के मूल तर्क को भी अभिव्यक्त करता है। जब लेखक प्रभात रंजन ने एक विद्यार्थी के रूप में हिंदू कॉलेज में दाखिला लिया, तो पहले ही दिन उन्हें देखकर किसी लड़की ने 'एचएमटी टाइप' बोला था। वे इसे समझ नहीं पाए थे, लेकिन बाद में उन्हें यह पता चला कि एचएमटी का अर्थ है—हिंदी मीडियम टाइप, जो किसी के अंग्रेजी न जानने और गँवार होने का द्योतक था। लेखक ने इस शब्दावली को बदलकर किताब का शीर्षक 'हिंदी मीडियम टाइट' रखा है। इससे उनका तात्पर्य यह ही है कि हिंदी वालों के सामने संभावनाओं के नए द्वार खुले हैं और अब वे भी अपनी सशक्त मौजूदगी महसूस करा सकते हैं।

पुस्तक को पढ़ते हुए यह बात साफ तौर पर सामने आती है कि दिल्ली में अभिजनों ने भाषा को जीवनशैली और वर्ग से जोड़ दिया है। इसके कारण फर्राटेदार अंग्रेजी बोलने वालों को शहरी, सभ्य और विशिष्ट माना जाने लगा तथा अंग्रेजी न बोल पाने वालों को पिछड़े तथा दुर्बल विद्यार्थियों के रूप में देखा जाने लगा। इसने हिंदी क्षेत्रों से आने वाले विद्यार्थियों के मन में गहरी हीन भावना को जन्म दिया। प्रभात रंजन अपने कॉलेज के दिनों को याद करते हुए यह बताते हैं कि कैसे अलग-अलग लोग अंग्रेजी के वर्चस्व से जूझने और हीनता को छिपाने के लिए भिन्न-भिन्न तरह की तरकीबें निकालते थे। कुछ लोग सार्वजनिक स्थल पर कम बोलते थे, कुछ टूटी-फूटी अंग्रेजी का सहारा लेते थे और कुछ अंग्रेजी गानों की मदद से खुद को अंग्रेजीदाँ दिखाने का प्रयास करते थे। इस पूरी प्रक्रिया में फर्राटेदार अंग्रेजी न बोलने वालों को 'हिंदी मीडियम टाइप' जैसे शब्दों के माध्यम से अकसर अवमानना का सामना भी करना पड़ता था। कई लोग इससे अपने-अपने तरीकों से बाहर निकले, जिसमें से एक तरीका खुद को अंग्रेजी में पारंगत बनाना रहा है। लेकिन अभी भी भाषा के स्तर होने वाले भेदभाव के कारण सिर्फ हिंदी बोलने वाले व्यक्ति को अभिजन और उच्च वर्ग तथा उच्च मध्यम वर्ग के लोग उपेक्षा की नजर से ही देखते हैं।

यह बात सच है कि मंडल कमीशन की सिफारिशों के विश्वविद्यालयों के स्तर पर लागू होने से विद्यार्थियों की संरचना में काफी बदलाव आया है। अब बड़ी संख्या में हिंदी के विद्यार्थी दिल्ली विश्वविद्यालय जैसी संस्थाओं में आ चुके हैं। लेकिन जैसा कि रविकांत ने किताब के आखिर में दिखाया है कि विशेष रूप से हिंदी में समाज विज्ञान पढ़ने वाले विद्यार्थी अभी भी अच्छी अध्ययन-सामग्री के अभाव से जूझ रहे हैं। उन्हें इसका खामियाजा कई रूपों में झेलना पड़ता है। मसलन, उन्हें परीक्षा में कम अंक मिलते हैं, और कई बार वे विषय की गहरी समझ से भी वंचित रह जाते हैं। हालाँकि, यह भी सच है कि पिछले दो दशकों में इस स्थिति में काफी सुधार हुआ है। किताब के लेखक प्रभात रंजन ने विस्तार से यह दिखाया है कि इंटरनेट, ब्लॉगिंग और सोशल मीडिया के दौर में हिंदी का विस्तार हुआ है, और नए अवसर भी सामने आए हैं। वे लिखते हैं कि 'सच बताऊँ तो मुझे हिंदी मीडियम होने का कोई मलाल नहीं होता।' फिर भी, यह याद रखने की जरूरत है कि अभी भी भाषा बहुत-से विद्यार्थियों के लिए अवमानना और हाशियाकरण का कारण बनी हुई है, और इस स्थिति को बदलने के लिए लगातार काम करने की आवश्यकता है। यह बात भी सच है कि सिर्फ हिंदीभाषी ही नहीं, बल्कि अन्य भारतीय भाषाओं के विद्यार्थी भी इस तरह के अनुभवों का सामना करते हैं, लेकिन यह पुस्तक सिर्फ हिंदी मीडियम वालों के अनुभवों को ही दर्ज करती है।

इस पुस्तक की भाषा-शैली अत्यंत रोचक है। लेखक ने हिंदी की हीनताग्रंथि से जूझते अपने साथियों की कहानी को बहुत ही सरस तरीके से प्रस्तुत किया है। अकादमिक जगत में हिंदीभाषियों के द्वंद्व, पीड़ा और निरंतर अवमानना के तथ्य को यह पुस्तक सरस और गहन तरीके से प्रस्तुत करती है। हिंदी विषय या हिंदी माध्यम से कोई अन्य विषय पढ़ने वाले विद्यार्थी इस पुस्तक के विवरणों से खुद को काफी अच्छी तरह से जोड़ पाएँगे। यह पुस्तक हर हिंदी माध्यम के विद्यार्थियों को अवश्य पढ़नी चाहिए, जिससे उन्हें यह अंदाजा हो सके कि उनसे पहले आये उनके सीनियर्स ने किस तरह की समस्याएँ झेलीं। अंग्रेजीदाँ लोगों को यह पुस्तक इसलिए पढ़नी चाहिए, ताकि वे अंग्रेजी भाषा के वर्चस्व के कारण बनने वाली दमनकारी दुनिया की समझ बना पाएँ।

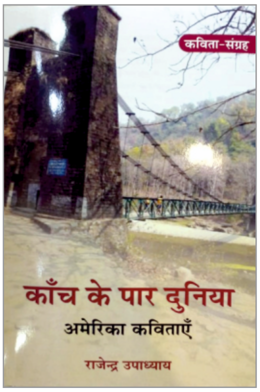

समीक्षक : **आशीष दशोत्तर**

कवि : **राजेन्द्र उपाध्याय**

प्रकाशक : अयन प्रकाशन, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059

पृष्ठ : 120

मूल्य : रु. 360/-

काँच के पार दुनिया

अमेरिका कविताएँ

इस समय की सबसे बड़ी त्रासदी यही है कि मनुष्यता निरंतर अपने निम्नतम स्तर पर जा रही है और मनुष्यता के विरोधी आगे बढ़ते जा रहे हैं। आज के दौर के रचनाकार के भी यही दर्द हैं। वह मनुष्य के भीतर चल रहे अंतर्द्वंद्वों को समझ भी रहा है, महसूस भी कर रहा है और उसे अभिव्यक्त भी कर रहा है। समृद्ध लेखन परंपरा के प्रतिनिधि और साहित्य की विविध विधाओं में निरंतर लेखन कर रहे वरिष्ठ कवि राजेन्द्र उपाध्याय की चिंता में भी यही सब कुछ है। उनके हाल ही में प्रकाशित कविता-संग्रह 'काँच के पार दुनिया' की कविताएँ भी इन्हीं चिंताओं से अवगत करवाती हैं।

मनुष्य का मनुष्य से अपरिचित होना, दिलों के बीच में दूरियाँ बढ़ना, रिश्तों में दरार पैदा होना और व्यक्ति का अपने आप में सिमट जाना, यह सब परेशान करने वाला है। कवि इसे सिर्फ समय का एक पहलू मानकर नहीं देखता, बल्कि वह इसके आने वाले दुष्परिणामों के प्रति चिंतित होता है। वह समाज के बिगड़ते स्वरूप की संभावनाओं को देखकर व्यथित होता है। राजेन्द्र जी के यहाँ पर भी यह व्यथा है। चाहे हम किसी भी भू-भाग की बात करें इंसान की भावनाओं से हर जगह खेला जा रहा है और उसे सिर्फ एक माध्यम बनाया जा रहा है। विडंबना यह है कि मनुष्य को स्वयं यह नहीं पता कि वह किसके हाथों का खिलौना बनकर रह गया है? उसकी दिनचर्या से लेकर उसके भविष्य की आकांक्षाएँ अब बाजार तय कर रहा है। बाजार घर-घर में प्रवेश कर चुका है और वह आपको, हमको सभी को एक कठपुतली की तरह इस्तेमाल कर रहा है। हम नहीं जानते कि हमारी डोर किसके हाथ में है, इसलिए हम सभी इशारों पर नाचने के लिए विवश हैं। राजेन्द्र जी के यहाँ भी यह विषय बहुत बड़ी त्रासदी के रूप में सामने आता है—

हम जानते हैं कि हम कठपुतली हैं
फिर भी हम कठपुतली बने रहते हैं

(*कठपुतली*)

कभी-कभी ऐसा लगता है, जो बहुत हद तक ठीक भी है कि हमारे बीच संवादहीनता की स्थिति बन चुकी है। घर में लोगों के बीच अब कोई बात नहीं होती। बुजुर्ग प्रवचनों की बाढ़ में डूबे एक कोने में सीमित कर दिए गए हैं। मध्य वय अपनी नौकरी में चौबीस घंटे के बंधक मजदूर बन चुके हैं। युवा मोबाइल में व्यस्त हैं और बच्चे स्कूल और ट्यूशन में। त्रासदी तो यह भी है कि अब एक ही घर में लोगों के बीच मोबाइल पर बात होने लगी है। ठीक इसी तरह हमारे घरों से किताबें भी अब दूर हो गई हैं। आजकल कोई किसी को किताब देने की बात सोचता भी नहीं है, इस कारण हमारे बीच से शब्द भी गायब हो रहे हैं। शब्दों का हमारे बीच से गायब होना हमारे जीवन में एक शून्यता को पैदा करने जैसा है। इसका एक खामियाजा यह भी हुआ है कि आज साहित्य सिर्फ प्रदर्शन का विषय हो गया है। दिखावे के लिए अपने गूगल गुरुओं के दम पर व्यक्ति अपने आपको बहुत बड़ा साहित्यकार मानने लगा है। उसे यह भी पता नहीं है कि कविता, कहानी, व्यंग्य, नाटक होता क्या है और इनमें कोई फर्क है या नहीं! वह सबके सामने अपने आपको इस तरह पेश करता है, जैसे वह आज के समय का सबसे बड़ा विद्वान हो।

उपाध्याय जी इशारों में समय के बदलते तेवरों पर प्रहार करते हैं। बनी-बनाई लीक पर चलने की बजाय वे इशारों से कुछ परिवर्तन की दरकार भी करते हैं और यह बताना भी चाहते हैं कि यह समय उलटबांसियों का है। जिसे जो करना चाहिए, वह नहीं कर रहा है, जिसके पास जो होना चाहिए, वह नहीं है। मनुष्य की निजता का हनन इस दौर की सबसे बड़ी त्रासदी है। डिजिटल युग में प्रवेश करने के बाद आपका अपना कुछ नहीं रहा। आपका सारा डाटा कहाँ-कहाँ एकत्र किया जा रहा है, आपको इसकी खबर नहीं। आप अपने घर के कोने में बैठकर किससे क्या बात कर रहे हैं, अब यह गोपनीय नहीं रहा। आपकी बात को कहाँ दर्ज किया जा रहा है यह आपको भी पता नहीं। आपकी निजता पूरी तरह सार्वजनीन हो चुकी है।

विकास के साथ हम किस समाज का निर्माण कर रहे हैं, यह नहीं देखा जा रहा है। उपाध्याय जी एक कवि होने के नाते यह सब देख रहे हैं। हर रचनाकार अपने आस-पास होते बदलावों को महसूस कर रहा है और बार-बार यह कह रहा है कि विकास के नाम पर किया जा रहा परिवर्तन मनुष्यता को बर्बाद कर रहा है।

उपाध्याय जी ने 38 की उम्र में अमेरिका यात्रा की थी। उस यात्रा की छवियाँ इस संग्रह की इन 69 कविताओं में नजर आती हैं। इंसानियत से बहुत दूर और आर्थिक जकड़न में गुम होते रिश्तों के पड़ताल, इन कविताओं के जरिये कवि ने की है। दुनिया पर अमेरिकी दबदबा, उसका तानाशाही रवैया और विश्व के अन्य देशों के साथ उसका व्यवहार अशोभनीय है। राजेंद्र जी की कविताओं में भी यह बात उभरकर सामने आती है।

संग्रह की भूमिका में श्याम सुंदर दुबे ने यह लिखा भी है, "राजेन्द्र की कविता की संवेदना का एटम कविता की अंतिम पंक्तियों में ही फूटता है और यह आपके भीतर के विजड़ित संसार में एक नई हलचल मचा देता है।"

किस तरह हमारा समाज विघटित हो रहा है, किस तरह दिखावे की संस्कृति पनप रही है, किस तरह हम अपने मानवीय मूल्यों को भूलते जा रहे हैं, यह सब इन कविताओं में मुखर हुआ है। प्रारंभ में एक सामान्य से विषय को लेकर चलती हुई कविताएँ अंत में आकर बहुत गंभीर हो जाती हैं और अपना पूरा प्रभाव छोड़कर जाती हैं। यह काव्य-संग्रह समय की नब्ज पर हाथ रखता है। कवि का दीर्घ अनुभव और समाज में बढ़ती बेचैनी इन कविताओं के जरिये सामने आई हैं। ये कविताएँ जनमानस के दर्द की अभिव्यक्ति के साथ पाठकों तक पहुँचेगी, यह विश्वास है।

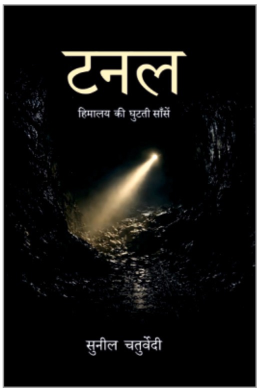

समीक्षक : **डॉ. यशोधरा भटनागर**

लेखक : **सुनील चतुर्वेदी**

प्रकाशक : संभावना प्रकाशन, हापुड़, उत्तर प्रदेश-245101

पृष्ठ : 116

मूल्य : रु. 225/-

टनल
हिमालय की घुटती साँसें
(उपन्यास)

हिमालय की रक्षा के लिए संघर्ष करने वाले सुंदरलाल बहुगुणा एवं विमला देवी सहित उन सभी ज्ञात एवं अज्ञात योद्धाओं को समर्पित सुनील चतुर्वेदी का उपन्यास 'टनल : हिमालय की घुटती साँसें' केवल एक दुर्घटना का आख्यान नहीं, बल्कि उस पूरे समय का दस्तावेज है—जब विकास के लिए अधीर आकांक्षाएँ, प्रकृति की धड़कनों पर भारी पड़ती जा रही हैं। यह एक बहुआयामी उपन्यास है, जिसमें सामाजिक यथार्थ है, पर्यावरणीय चेतना है, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानवीय संवेदनाएँ हैं।

सिल्क्यारा टनल दुर्घटना में निर्माणाधीन टनल का एक हिस्सा ध्वस्त हो गया था और 41 मजदूर भीतर फँस गए थे। लेखक इस घटना को महज एक 'इंसिडेंट' की तरह नहीं लेते, बल्कि इसे एक बड़े विमर्श का प्रवेश-द्वार बना देते हैं—वह विमर्श है हिमालय और विकास के टकराव का। यहाँ हिमालय केवल भौगोलिक संरचना नहीं, बल्कि एक जीवित इकाई है, एक ऐसा अस्तित्व है, जिसकी अपनी संवेदनाएँ, सीमाएँ और संतुलन हैं। लेखक हिमालय के अस्तित्व, उसकी नाजुक संरचना और उस पर थोपे जा रहे विकास के मॉडल की गहराई से पड़ताल करते हैं। लेखक भू-विज्ञान के विशेषज्ञ हैं, इसलिए उपन्यास में वैज्ञानिक दृष्टि और संवेदनशीलता का अद्‌भुत संतुलन दिखाई देता है। 'टनल' केवल भावनात्मक कथा नहीं, बल्कि तथ्य और अनुभव से उपजी चेतावनी भी है। सुनील चतुर्वेदी केवल भावनात्मक अपील नहीं करते, बल्कि वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर बताते हैं कि हिमालय क्यों इतना संवेदनशील है—यह दुनिया की सबसे युवा पर्वत शृंखला है, यह अब भी अपने बनने की प्रक्रिया में है। इसमें अत्यधिक कटान और निर्माण गतिविधियाँ प्राकृतिक संतुलन को बिगाड़ देती हैं।

उपन्यास की संरचना अत्यंत रोचक और प्रभावी है। इसमें दो कथावाचक हैं—मुख्य कथावाचक जो टनल दुर्घटना, रेस्क्यू ऑपरेशन और उससे जुड़े घटनाक्रम को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करता है। दूसरा, कथावाचक एक बूढ़ा रहस्यमय व्यक्ति है। यह चरित्र उपन्यास की आत्मा है। बूढ़ा टनल की घटना के साथ-साथ पहाड़ के लोकजीवन, परंपराओं और स्मृतियों को जोड़ता चलता है। वह लोककथाओं और अनुभवों के माध्यम से पहाड़ का इतिहास और संस्कृति सामने लाता है। उसकी बातें रहस्यमयी और गहरी हैं। इस बूढ़े के स्वर में कहीं-कहीं स्वयं हिमालय का थका, चेतावनी देता अडिग स्वर सुनाई देता है। यह द्वि-स्तरीय कथन शैली उपन्यास को केवल घटना-प्रधान नहीं रहने देती, बल्कि उसे दार्शनिक और प्रतीकात्मक ऊँचाई देती है। लेखक ने टनल के भीतर फँसे मजदूरों का अत्यंत मार्मिक चित्रण किया है। एक ओर अँधेरे में कैद जीवन, सीमित संसाधन, हर क्षण मृत्यु की आशंका फिर भी जीवित रहने की जिजीविषा है, वहीं दूसरी ओर टनल के बाहर परिजनों की व्याकुल प्रतीक्षा, प्रशासन और कंपनियों का दबाव, विशेषज्ञों की असफल कोशिशें हैं। यह द्वंद्व केवल भौतिक नहीं, बल्कि मानसिक और भावनात्मक भी है। लेखक यह दिखाते हैं कि विकास की चमक के पीछे कितनी अदृश्य पीड़ाएँ छिपी होती हैं।

उपन्यास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि अंततः सफलता स्थानीय मजदूरों (रेट माइनर्स) के अनुभव से मिलती है। यहाँ लेखक यह स्थापित करते हैं कि आधुनिक तकनीक महत्वपूर्ण है, लेकिन सर्वशक्तिमान नहीं। प्रकृति के साथ जीने वालों का अनुभव अधिक गहरा और कारगर होता है। यह विचार आज के 'टेक्नो-सेंट्रिक' विकास मॉडल पर एक सशक्त प्रश्नचिह्न है। उपन्यास में मुख्य कथा के साथ उपकथाएँ और मानवीय आयाम भी सुदृढ़ता से जुड़े हुए दिखाई देते हैं। टनल में फँसे मजदूरों की व्यक्तिगत कहानियाँ-उनकी गरीबी, परिवार की जिम्मेदारियाँ, बेहतर जीवन की तलाश—इन सबको लेखक ने उपकथाओं के रूप में नहीं, बल्कि मुख्य कथा के अभिन्न हिस्से के रूप में प्रस्तुत किया है।

यहाँ 'चिपको आंदोलन' और उससे जुड़े पर्यावरणविदों जैसे सुंदरलाल बहुगुणा और चंडी प्रसाद भट्ट का उल्लेख कथा को ऐतिहासिक और वैचारिक गहराई प्रदान करता है। इसके माध्यम से लेखक यह संकेत देते हैं कि हमारे पास पहले से चेतावनियाँ थीं, आंदोलनों का इतिहास था, लेकिन हमने उन्हें अनदेखा किया।

भाषा की दृष्टि से यह उपन्यास अत्यंत सहज और प्रवाहपूर्ण है। उपन्यास में आंचलिक भाषा का प्रयोग अत्यंत सरस और माधुर्य से पूर्ण है। वैज्ञानिक तथ्यों की उपस्थिति के बावजूद भाषा कहीं भी बोझिल प्रतीत नहीं होती। लोक-जीवन, पहाड़ी संस्कृति और मान्यताओं के चित्रण में एक आत्मीयता है, जो पाठक को उस भूगोल से भावनात्मक रूप से जोड़ देती है। 'टनल' का सबसे गहरा प्रभाव उसके प्रतीक में निहित है। यह सुरंग केवल पहाड़ के भीतर नहीं जाती, बल्कि वर्तमान की चेतना में भी उतरती है और पूछती है कि क्या हम सचमुच आगे बढ़ रहे हैं या अंधेरे में और गहरे धँसते जा रहे हैं?

अंततः 'टनल' एक चेतावनी है कि यदि विकास का वर्तमान मॉडल प्रकृति सहचरी को एक दरकिनार कर जारी रहा, तो हिमालय जैसे संवेदनशील क्षेत्र गंभीर संकट में पड़ सकते हैं। यह उपन्यास हमें पुनर्विचार के लिए प्रेरित करता है कि विकास कैसा हो और किसके लिए हो? वहीं यह हमें सोचने के लिए विवश करता है कि क्या हम सच में विकास कर रहे हैं? हरे पेड़ों के शैदाई सुनील चतुर्वेदी का गन्ने की खोई से निर्मित कागज पर छपा 'टनल : हिमालय की घुटती साँसें' उपन्यास समकालीन हिंदी साहित्य में एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है, जिसे हर गंभीर पाठक को अवश्य पढ़ना चाहिए।

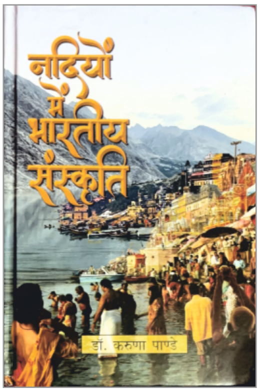

समीक्षक : **जनार्दन मिश्र**

लेखिका : **डॉ. करुणा पाण्डे**

प्रकाशक : श्वेता बुक एजेंसी, पिलानी, राजस्थान-333031

पृष्ठ : 221

मूल्य : रु. 695/-

नदियों में भारतीय संस्कृति

प्राचीन काल से नदियाँ हमारे जीवन, धर्म और सभ्यता के विकास का आधार रही हैं और आगे भी रहेंगी। नदियाँ भारतीय संस्कृति की वाहक हैं। सिंधु और गंगा जैसी नदियों के किनारे प्राचीन सभ्यताओं का विकास हुआ और आज भी हमारे धार्मिक स्थल और छोटे-बड़े शहर नदी-किनारे स्थित हैं।

साहित्य की विविध विधाओं में तीन दर्जन से अधिक पुस्तकों की लेखिका, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अनेक पुरस्कारों से पुरस्कृत डॉ. करुणा पाण्डे की नवीनतम पुस्तक, 'नदियों में भारतीय संस्कृति' में कुल 67 नदियों की आत्मकथा वर्णित है। इस पुस्तक को 'नदियों की आत्मकथा' कहना इसलिए उचित होगा कि लेखिका ने नदियों के उद्गम स्थल से लेकर उनके मुहाने तक की यात्रा का वर्णन नदियों की जुबानी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

नदियों का उल्लेख कई प्राचीन ग्रंथों में भी है, जिनमें मुख्य रूप से ऋग्वेद और पौराणिक ग्रंथ शामिल हैं। ऋग्वेद में विशेष रूप से 42 नदियों का उल्लेख मिलता है, जिनमें गंगा, यमुना, सरस्वती, सिंधु और वितस्ता (झेलम) जैसी नदियाँ प्रमुख हैं। हमारे धार्मिक ग्रंथ 'विष्णु पुराण' के अनुसार गंगा का आविर्भाव भगवान विष्णु के बाएँ पैर के अँगूठे से हुआ। गंगा को भारत की पवित्र नदियों में सर्वोत्तम स्थान प्राप्त है।

221 पृष्ठों की इस पुस्तक में, 'मैं अलकनन्दा हूँ' से नदियों की आत्मकथा की शुरुआत होती है। अलकनंदा के शब्दों में, स्वर्ग से पृथ्वी पर आने पर सर्वप्रथम महादेव ने अपनी अलकों अर्थात जटाजूट में मुझे बाँधा था, इसलिए मुझे अलकनन्दा नाम मिला। 'विष्णु पुराण' में मेरे इस अलकनन्दा स्वरूप का उल्लेख है। मेरा प्रवाह उत्तराखंड के तीन जिलों—चमोली, रुद्रप्रयाग तथा पौड़ी में होता है। तिब्बत की सीमा के पास केशव प्रयाग में मुझसे सरस्वती का मिलन होता है।

'मैं भागीरथी हूँ' में अपने उद्गम का उल्लेख करती हुई भागीरथी कहती हैं—चौखम्भा शिखर के उत्तरी-पश्चिमी भाग पर स्थित गंगोत्री हिमशिखर की 4,000 मीटर की ऊँचाई पर गोमुख से मेरा उद्गम हुआ है। इस आत्मकथा में इक्ष्वाकु वंश के बाहुबली धार्मिक प्रकृति के राजा सगर, उनके पुत्र असमंजस तथा पौत्र अंशुमान के साथ-साथ दिलीप की वीरता एवं भागीरथ के जन्म एवं उनके घोर तप का उल्लेख है। भगीरथ राम के ही पूर्वज हैं, जो ब्रह्मा से लगभग तेईसवीं पीढ़ी बाद और श्रीराम से लगभग चौदहवीं पीढ़ी पूर्व हुए थे। 'मैं गंगा हूँ' में गंगा कहती हैं कि मैंने अनेक सभ्यताओं का उद्भव, विकास और पराभव देखा है। मैंने 'रामायण' और 'महाभारत' का समय देखा भी है और भोगा भी है। मेरी ही घाटी में शतपथ ब्राह्मण, पंचविश ब्राह्मण, गोपथ ब्राह्मण, ऐतरेय आरण्यक, कौशीतकि आरण्यक, सांख्यान आरण्यक, वाजसनेयी संहिता और महाभारत की रचना की गई थी। मेरे साथ अनेक पौराणिक कथाएँ जुड़ी हैं। यमुना अपनी आत्मकथा में कहती हैं कि भारत की सर्वाधिक प्राचीन और पवित्र नदियों में गंगा के समकक्ष मुझे ही रखा गया है।

आज के दौर में लुप्त हो चुकी सरस्वती कहती हैं कि ऋग्वेद में अनेक स्थानों में मुझे अन्नवती, उदकवती, प्लाक्षवती, वेदस्मृति, वेदवती कहा गया है। वैदिक ग्रंथों के अनुसार, मुझे भगवान नारायण की पत्नी माना जाता है, जो एक श्राप के कारण पृथ्वी पर अवतरित हुई। वैदिक काल में मुझे पवित्र और विवेक का आधार माना जाता था, क्योंकि मेरे तट पर मेरे जल का अभिसिंचन करते हुए ही वेद रचे गए थे। ऋग्वेद के 'नदी सूक्त' में मेरा उल्लेख किया गया है। आज के दौर में अमूर्त होकर भी मूर्त हूँ और मौन होकर भी हर जन के कंठ की शोभा बनी हुई हूँ।

इस पुस्तक में कोसी, ब्रह्मपुत्र जैसी बड़ी नदियों के साथ अनेक ऐसी छोटी-छोटी, पर महत्वपूर्ण नदियों का भी उल्लेख है, जो अपने उद्गम स्थल से आगे चलकर किसी बड़ी नदी में मिल जाती हैं, पर उन नदियों के किनारे भी अनेक गाँव, शहर हैं और धार्मिक स्थल तो हैं ही, और अनेक देवालय भी हैं, जहाँ उस क्षेत्र के अलावा दूर-दूर से धार्मिक प्रवृत्ति के लोग जाते रहते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि लेखिका ने नदियों के साथ सिर्फ धार्मिक ग्रंथों को ही नहीं जोड़ा है, बल्कि आज के दौर में उनकी कैसी स्थिति हो गई है उसका भी उल्लेख किया है। अपने उद्गम स्थल से कुछ दूरी की यात्रा तय करने के बाद नदियाँ गंदे नाले के मिलने के कारण इतनी प्रदूषित हो गई हैं कि प्यासा आदमी भी उसी रूप में उस नदी का जल नहीं पीना चाहेगा। अधिकांश नदियाँ तो ग्रीष्म काल में कई जगहों पर सूख जाती हैं, हाँ, बरसात के दिनों में अपना भयावह रूप जरूर दिखाती हैं। लेखिका ने नदियों की कथा उनकी जुबानी जरूर लिखी हैं, पर वास्तविक रूप में पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु प्रकृति की जड़ हैं, जिसका उल्लेख समुद्र ने श्रीराम से किया है। न उनका कोई मित्र होता है, न कोई शत्रु। सबके साथ समानता का व्यवहार करते हैं। ऐसे में पर्यावरण के प्रदूषित होने के हम स्वयं जिम्मेदार हैं। यदि हम नदियों को ऐसे ही प्रदूषित करते रहेंगे, तो वे दिन दूर नहीं, जब हम स्वयं मिट जाएँगे और नदियाँ वैसे ही स्वच्छ हो जाएँगी, जैसे कोरोना काल में हो गई थीं।

समग्रता में यह पुस्तक हर व्यक्ति के लिए पठनीय है, ताकि नदियों के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझें। इस पुस्तक के साथ संदर्भ ग्रंथों की सूची इसकी उपादेयता को और बढ़ा देती है।

समीक्षक : **प्रदीप कुमार शुक्ला**

लेखक : **डॉ. संजीव कुमार**

समन्वयक : **शैली माथुर**

प्रकाशक : इंडिया नेटबुक्स, प्रा.लि., नोएडा, गौतमबुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश

पृष्ठ : 59

मूल्य : रु. 145/- (पेपरबैक)

भारत की पौराणिक कथाओं में नारी

यूँ तो हिंदी साहित्य की अनेकानेक विधाओं में पौराणिक विषयों पर बहुत लिखा जा रहा है, लेकिन रोचक तरीके से विस्तारपूर्वक लिखने का प्रचलन उतना नहीं दिख रहा, जितना कि होना चाहिए। किंतु ऐसे में पौराणिक विषयों और उसमें भी पौराणिक कथाओं में विशिष्ट नारियों की स्थिति, उनकी समाज में महत्ता और उनके बारे में विस्तार से कथा रूप में रोचकता से इसे पुस्तक रूप में लिखने का बीड़ा उठाया है वरिष्ठ लेखक डॉ. संजीव कुमार ने। इस पुस्तक के लेखन में उनके साथ सहयोगी के रूप में समन्वक रही हैं—शैली माथुर। मेरा मानना है कि महिलाओं के विषय में जितनी सूक्ष्मता से एक महिला बातों को सामने ला सकती है, वह कुछ अलग ही होगा। इस दृष्टि से संजीव जी से कुछ कमतर नहीं हैं समन्वयक शैली माथुर। इस बात को इस पुस्तक को पढ़ते हुए आसानी से महसूस किया जा सकता है। इसे लेखक ने भी स्वीकारा है और एक जगह उल्लेख करते हुए लिखा है, 'इस संकलन में विभिन्न नारी पात्रों के जीवन-वृत्तों पर आधारित सत्रह कहानियाँ शामिल हैं, उसकी विषय-सामग्री को तैयार करने में शैली माथुर का बड़ा योगदान रहा है।'

जैसा कि, हम सब जानते हैं कि आदिग्रंथ, ऋग्वेद से प्रारंभ होता है और इसके बाद अन्य पुराणों, उपनिषदों, स्मृतियों और संहिताओं में जो ज्ञान, दर्शन है, उसमें नारी पात्रों का भी उल्लेख है। उनमें भी प्राचीन ग्रंथ—रामायण व महाभारत में अनेकानेक नारी पात्र हैं, जो कि अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं और उन पात्रों पर लेखक ने इस पुस्तक में सधी लेखनी चलाकर साहित्य को समृद्ध करने का महत कार्य किया है। उन महिला पात्रों में इस संकलन में शामिल हैं—सुमित्रा, कौशल्या, गांधारी, तारा, सती सावित्री, मंदोदरी, अनुसूया, कैकेयी, देवकी, कुंती, उर्मिला, सीता और उत्तरा आदि। ये सब और अन्य महिला पात्र उस काल में जितनी चर्चित रही हैं, उससे कुछ अधिक ही आज भी समाज के लिए प्रेरणा का स्रोत कही जा सकती हैं। भारत की पौराणिक कथाओं में इन सभी सत्रह विशिष्ट नारियों की भूमिका, उनकी स्थिति और संदेश देने में यह पुस्तक उपयोगी है।

इन नारियों में सती शिरोमणि पर बहुत उपयोगी, जानकारीभरा व रोचकतापूर्ण विवरण पढ़ने योग्य है। इस कथा में बताया गया है कि भारत की सती-साध्वी नारियों में देवी सती का नाम सबसे पहले लिया जाता है, जो राजा दक्ष की पुत्री थीं। सती-साध्वी स्त्रियों की आदर्श हैं। अन्य स्त्रियाँ जो पतिव्रता थीं, उन्हें भी 'सती' की उपाधि से सुशोभित किया गया। भगवती सती ने जिस धर्म का अनुसरण किया उसे ही सती धर्म कहा गया। शास्त्रों में भी यह धर्म सती धर्म के नाम से संकलित है। गंगा किनारे स्थापित सती तीर्थ उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि उसी स्थान पर सती ने अपनी देह का त्याग किया था।

अन्य नारी पात्र हैं—सती सावित्री। सावित्री मद्र देश के राजा अश्वपति की कन्या थीं। वे बड़े ही धर्मात्मा, सत्यवादी और जितेंद्रिय थे और अपनी प्रजा का बहुत ध्यान रखते थे। प्रजा की भी उनके प्रति बड़ी आसक्ति थी। राजा हमेशा सब के बारे में अच्छा सोचते और करते थे। इतना होने पर भी राजा हमेशा एक दुख से ग्रसित रहते कि उनकी कोई संतान नहीं है। संतान-प्राप्ति के लिए ऋषि-मुनियों के कहने पर उन्होंने 18 वर्षों तक देवी सावित्री की कठोर तपस्या की। 18 वर्ष पूर्ण होने पर उन्हें एक दिन स्वप्न में देवी सावित्री दिखीं और उन्होंने राजा से कहा कि मैं तुम्हारी तपस्या से बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हें एक तेजस्विनी पुत्री का पिता बनने का सौभाग्य मिलेगा। ऐसा कहकर देवी अंतर्ध्यान हो गईं। यथासमय उन्हें अपनी रानी, जो मालव नरेश की पुत्री थीं, के द्वारा एक पुत्री का पिता बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सावित्री दिन-ब-दिन ऐसे बढ़ने लगी, जैसे शुक्ल पक्ष का चंद्रमा बढ़ता है। जब सावित्री विवाह योग्य हो गईं, तो उनके पिता राजा अश्वपति ने उनको स्वयं अपना पति खोजने का आदेश दिया। राजा ने सावित्री के साथ कुछ मंत्रियों को भी जाने की आज्ञा दी। राजा ने सावित्री से कहा कि वह पति का चुनाव बहुत सोच-समझकर करे, क्योंकि हमारे यहाँ कन्या एक बार ही वर का चुनाव करती है। राजा के कथनानुसार, मंत्रियों का एक दल सावित्री सहित रथ पर सवार होकर यात्रा पर निकल पड़ा। सावित्री जगह-जगह दान-पुण्य करती हुई, विभिन्न तीर्थों के दर्शन करती हुई, घूमते-घूमते मंत्रियों के साथ एक घने वन में पहुँची। वहाँ उन्होंने एक ऐसा युवक देखा, जो सुंदर और राजसी गुणों से युक्त था। उस युवक को देखकर सावित्री उसकी ओर आकृष्ट हो गई—और फिर आगे क्या हुआ, इसको जानने के लिए पाठक को इस कथा के साथ ही, अन्य रोचक कथाओं को भी इस पुस्तक में अवश्य पढ़ना चाहिए।

इतना ही नहीं, इस पुस्तक में सभी नारी पात्रों पर बहुत ही रोचकता से कथा रूप में जो वर्णन है, वह कौतूहल जगाता है, जिसे केवल आद्योपांत पढ़कर ही शांत किया जा सकता है।

बोगोटा अंतरराष्ट्रीय पुस्तक मेला 2026 में भारत सम्मानित अतिथि देश के रूप में शामिल

21 अप्रैल से 04 मई, 2026 तक चलने वाले बोगोटा अंतरराष्ट्रीय पुस्तक मेले 2026 में सम्मानित अतिथि के रूप में भारत की ऐतिहासिक भागीदारी का भव्य समापन हो चुका है, जिसने सांस्कृतिक आदान-प्रदान और साहित्यिक संवाद की एक सशक्त छाप छोड़ी है। औपचारिक उपस्थिति से कहीं आगे बढ़कर, भारत का यह प्रदर्शन विचारों, कहानी कहने और साझा विरासत के एक जीवंत उत्सव में परिवर्तित हो गया।

भारत की भागीदारी के महत्व पर प्रकाश डालते हुए, कोलंबिया में भारत के राजदूत महामहिम श्री वनलालहुमा ने कहा, "भारत को सम्मानित अतिथि देश के रूप में आमंत्रित किया जाना निश्चित रूप से कोलंबिया और इस क्षेत्र के साथ भारत के संबंधों को मजबूत करने में सहायक होगा। इसलिए हम यहाँ अपनी भागीदारी से बहुत प्रसन्न हैं।" इस आशावाद की झलक भारत मंडप को मिली शानदार सार्वजनिक प्रतिक्रिया में भी दिखाई दी, जिसके अंतर्गत लगभग तीन लाख आगंतुकों ने इसमें शिरकत की और यह मंडप मेले के सबसे लोकप्रिय स्थानों में से एक बनकर उभरा। इस उत्साह का अनुमान लगाते हुए, एमिरो अरिस्टिज़ाबल ने टिप्पणी की, "पहले दिन से ही यहाँ अद्भुत माहौल रहा है—अंदर जाने के लिए लंबी-लंबी कतारें लगी हैं... मुझे उम्मीद है कि अंत में छह लाख आगंतुक आएँगे, और मुझे लगता है कि उनमें से आधे से अधिक लोग भारत मंडप में अवश्य आएँगे।"

भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा कोलंबिया स्थित भारतीय दूतावास के सहयोग से आयोजित और भारत के राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत (एनबीटी) द्वारा संचालित यह पहल किसी अंतरराष्ट्रीय पुस्तक मेले में अब तक की सबसे व्यापक भारतीय प्रस्तुति थी। राष्ट्रीय पुस्तक न्यास के अध्यक्ष प्रो. मिलिंद सुधाकर मराठे ने अपने स्वागत भाषण में दर्शकों को इस मंडप के माध्यम से 'भारतीय संस्कृति की विविधता का अनुभव' करने के लिए आमंत्रित किया। भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय के उप सचिव श्री श्रेयांश मोहन ने कहा, "यह मंडप केवल पुस्तकों के आदान-प्रदान का प्रतिनिधित्व नहीं करता, बल्कि एक साझा सांस्कृतिक क्षितिज के निर्माण का प्रतीक है।" इस पहल ने स्थायी सांस्कृतिक संबंधों के निर्माण के विशिष्ट उद्देश्य को रेखांकित किया।

भारत/इंडिया स्टेज संवाद के लिए एक जीवंत मंच के रूप में उभरा, जहाँ भारतीय और कोलंबियाई लेखकों, विद्वानों और विचारकों के बीच चर्चाएँ हुईं। डिजिटल युग में प्रकाशन के भविष्य से लेकर रचनात्मकता और प्रौद्योगिकी के बीच संबंधों जैसे अनेक विषयों पर विचार-विमर्श हुआ। सत्रों में बार-बार आने वाला एक विषय साहित्य का चिरस्थायी मानवीय सार था, भले ही पहुँच और प्रसार के तरीके लगातार विकसित हो रहे हों।

मेले के दौरान विकसित हुए गहरे सांस्कृतिक संबंधों पर जोर देते हुए, प्रो. मराठे ने कहा, "पढ़ना कोई व्यक्तिगत पहलू नहीं है... यह परिवार के साथ मिलकर किया जाने वाला एक सामूहिक कार्य होना चाहिए... और मुझे लगता है कि कोलंबियाई आगंतुक भारतीय साहित्य और भारतीय संस्कृति में पूरी तरह से डूब रहे हैं।"

भारत की भागीदारी के दीर्घकालिक प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए न्यास में मुख्य संपादक एवं संयुक्त निदेशक तथा भारत, सम्मानित अतिथि प्रस्तुति परियोजना के प्रमुख श्री कुमार विक्रम ने कहा, "FILBO में भारत की भागीदारी एक बड़ी सफलता रही है और हम कोलंबियाई और अन्य लैटिन अमेरिकी प्रकाशकों के साथ हुई उत्साहवर्धक बातचीत से विशेष रूप से प्रसन्न हैं, जो अपनी प्रकाशन पहलों के तहत 'इंडिया सीरीज' की पुस्तकें प्रकाशित करने के इच्छुक हैं।" न्यास के निदेशक श्री युवराज मलिक ने कहा, "कोलंबिया में भारतीय पुस्तकों और संस्कृति को बढ़ावा देना हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण है... और अब हम नई दिल्ली विश्व पुस्तक मेले में कोलंबिया को सम्मानित अतिथि देश के रूप में आमंत्रित किए जाने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

एफआईएलबीओ (FILBO) 2026 में भारत की भागीदारी ने सांस्कृतिक आदान-प्रदान की द्विपक्षीय संबंधों को मजबूत किया है, भारतीय साहित्य की पहुँच का विस्तार किया है और भौगोलिक और भाषायी विभाजनों को पाटने में पुस्तकों और विचारों की भूमिका को सुदृढ़ किया है। इस सहभागिता की विरासत के जारी रहने की उम्मीद है, जो आने वाले वर्षों में गहन सहयोग और आपसी समझ का मार्ग प्रशस्त करेगी।

मेले की पूरी अवधि के दौरान अनेक साहित्यिक सत्र आयोजित किये गए। इस शृंखला में 'राष्ट्रीय कथाएँ, वैश्विक मंच : पुस्तक समारोहों की भूमिका' शीर्षक सत्र में प्रकाशन और सांस्कृतिक क्षेत्र के प्रतिनिधियों को एक एक मंच पर लाया गया, ताकि इस बात पर व्यापक चर्चा की जा सके कि पुस्तक मेले वास्तव में क्या करते हैं और वे क्या बेहतर कर सकते हैं। इस सत्र की अध्यक्षता एनबीटी के अध्यक्ष प्रो. मिलिंद सुधाकर मराठे ने की और इसका संचालन श्री दीपक करंजिकर ने किया। पैनल में एनबीटी के मुख्य संपादक और संयुक्त निदेशक श्री कुमार विक्रम और कोलंबियाई शिक्षाविद् श्री एंड्रेस बैरागान शामिल थे।

'विभिन्न माध्यमों से कहानियाँ साझा करना : सिनेमा, चित्रकला और साहित्य' शीर्षक पैनल में भारतीय प्रतिनिधिमंडल से चित्रकार श्री पार्थ सेनगुप्ता, श्री स्वर्णजीत सावी और श्री दीपक करंजिकर के साथ-साथ कोलंबियाई विद्वान सुश्री रोजा कार्डेनास भी शामिल थीं। सत्र का संचालन श्री शांतनु गुप्ता ने किया। श्री पार्थ सेनगुप्ता ने पुस्तकों और चित्रों के साथ अपने शुरुआती अनुभवों को साझा करते हुए कार्टूनिस्ट मारियो मिरांडा की प्रशंसा की, जिनके काम ने उन पर अमिट छाप छोड़ी। श्री दीपक करंजिकर ने नए मीडिया को लेकर फैली चिंताओं का खंडन करते हुए तर्क दिया कि समस्या माध्यम में शायद ही कभी होती है। सोशल मीडिया पर जो चीज ध्यान खींचती है, वही हमेशा से ध्यान खींचती आई है और वह है प्रामाणिकता। सुश्री रोजा कार्डेनास ने बातचीत में कोलंबिया के उन हिस्सों का जिक्र किया, जो बाकी दुनिया से बहुत दूर हैं। उन्होंने उन समुदायों में रेडियो की भूमिका के बारे में बात की, जहाँ रेडियो से आने वाली मानवीय आवाज केवल मनोरंजन नहीं थी, बल्कि यह लोगों के एक-दूसरे को अपनी पहचान बताने का जरिया थी। श्री स्वर्णजीत सावी ने चित्रकला को प्रकृति, भावनाओं और जीवन के अनुभवों के साक्षी के रूप में प्रस्तुत करते हुए चर्चा का समापन किया।

निस्संदेह, बोगोटा अंतरराष्ट्रीय पुस्तक मेला 2026 में आए आगंतुकों, सांस्कृतिक नेतृत्वकर्ताओं और संस्थानों की प्रतिक्रिया ने इस पहल की सफलता को रेखांकित किया। भारत की उपस्थिति को व्यापक रूप से एक मील का पत्थर माना गया, न केवल इसके व्यापक स्वरूप के लिए, बल्कि इसके द्वारा पोषित गहन सहभागिता के लिए भी।

'छत्रपति शिवाजी महाराज : एक दूरदर्शी प्रशासक'

शीर्षक कार्यशाला का आयोजन

'छत्रपति शिवाजी महाराज : एक दूरदर्शी प्रशासक' शीर्षक दो दिवसीय (12-13 जून, 2026) कार्यशाला का आयोजन राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत द्वारा सावित्रीबाई फुले पुणे यूनिवर्सिटी और समर्थ युवा फाउंडेशन के संयुक्त तत्वावधान में किया गया।

इस कार्यशाला का उद्घाटन महाराष्ट्र सरकार के लोक निर्माण मंत्री श्री शिवेंद्रराजे भोसले ने किया। अपने वक्तव्य में, उन्होंने छत्रपति शिवाजी महाराज के प्रशासन, नेतृत्व और शासन के उन पहलुओं के अध्ययन के महत्व पर बल दिया, जिनके बारे में कम जानकारी है। राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत के अध्यक्ष प्रो. मिलिंद सुधाकर मराठे ने किताबों, कार्यशाला और शोध पहल के माध्यम से शिवाजी महाराज की विविध उपलब्धियों को युवा पीढ़ी तक पहुँचाने की जरूरत पर जोर दिया। उन्होंने एक विकसित भारत की नींव के तौर पर पढ़ने की संस्कृति को मजबूत करने के महत्व पर भी जोर दिया। सावित्रीबाई फुले पुणे यूनिवर्सिटी के कुलपति प्रो. (डॉ.) सुरेश गोसावी ने आज की शिक्षा और युवाओं के विकास के लिए शिवाजी महाराज के प्रबंधन सिद्धांतों की प्रासंगिकता पर प्रकाश डाला।

न्यास के ट्रस्टी श्री राजेश पांडे ने युवा शोधार्थियों और लेखकों को तैयार करने में इस कार्यशाला की बदलाव लाने वाली क्षमता पर जोर दिया। उन्होंने छात्रों को छत्रपति शिवाजी महाराज के जीवन और विरासत के विभिन्न पहलुओं पर लिखने के लिए प्रोत्साहित करने का प्रस्ताव रखा, ताकि चुनिंदा रचनाओं को पुस्तक का रूप दिया जा सके और एनबीटी के माध्यम से पूरे देश में प्रसारित किया जा सके, जिससे शिवाजी महाराज की प्रेरणादायक सोच ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुँच सके।

इस कार्यशाला में नेतृत्व, प्रशासन, सैन्य रणनीति, पर्यावरण जागरूकता और राष्ट्र-निर्माण पर ध्यान केंद्रित किया गया। प्रतिभागियों को शिवाजी महाराज की सोच और शासन-कला के विभिन्न पहलुओं को जानने-समझने के लिए प्रोत्साहित किया गया। इस कार्यक्रम में विश्वविद्यालय के अधिकारी, एनबीटी के प्रतिनिधि, शिक्षाविद् और छात्र शामिल हुए।

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत द्वारा पुस्तक प्रकाशन पाठ्यक्रम 2026 का आयोजन

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत में 01 जून, 2026 को छह सप्ताह का ऑफलाइन पुस्तक प्रकाशन पाठ्यक्रम 2026 प्रारंभ हुआ, जो लगभग एक दशक तक मुख्य रूप से ऑनलाइन शिक्षण के बाद गहन व्यक्तिगत प्रशिक्षण की ओर एक महत्वपूर्ण वापसी का प्रतीक है। न्यास के मुख्यालय में 01 जून से 10 जुलाई, 2026 तक चलने वाले इस पाठ्यक्रम के माध्यम से प्रकाशन क्षेत्र से जुड़ने को इच्छुक प्रतिभागियों को इस उद्योग से जुड़े व्यावहारिक अनुभव और विशेषज्ञ मार्गदर्शन प्रदान किया गया।

प्रतिभागियों का स्वागत करते हुए, एनबीटी के निदेशक श्री युवराज मलिक ने पुस्तकों की अनूठी और चिरस्थायी प्रकृति के बारे में बात की। उन्होंने कहा कि जहाँ अधिकांश उत्पादों का जीवनकाल सीमित होता है, वहीं पुस्तकों में पीढ़ियों तक, कभी-कभी सदियों तक प्रासंगिक, प्रभावशाली और अर्थपूर्ण बने रहने की अद्भुत क्षमता होती है। उन्होंने प्रतिभागियों को समाज में प्रकाशन की व्यापक सांस्कृतिक और बौद्धिक भूमिका को पहचानने के लिए प्रोत्साहित किया। प्रकाशन जगत के बदलते परिदृश्य पर बोलते हुए, एनबीटी के मुख्य संपादक और संयुक्त निदेशक श्री कुमार विक्रम ने इस बात पर जोर दिया कि प्रौद्योगिकी और कृत्रिम बुद्धिमत्ता इस उद्योग में तेजी से महत्वपूर्ण उपकरण बनते जा रहे हैं। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा कि प्रकाशन अंततः एक जन-केंद्रित पेशा है, जिसके लिए सहानुभूति, जिज्ञासा और विषय की समझ आवश्यक है। न्यास के मलयालम संपादक श्री रुबिन डी' क्रूज़ ने कक्षा से परे पुस्तकों के साथ घनिष्ठ संबंध विकसित करने के महत्व पर प्रकाश डाला। उन्होंने प्रतिभागियों को सलाह दी कि वे पुस्तक दुकानों में समय बिताएँ—केवल खरीदार के रूप में नहीं, बल्कि पाठकों के व्यवहार, पुस्तक प्रस्तुतीकरण और पुस्तकों से जुड़ी समग्र संस्कृति के पर्यवेक्षक के रूप में।

इस पाठ्यक्रम में प्रतिभागियों को पुस्तक प्रकाशन के विभिन्न चरणों, जैसे संपादकीय प्रक्रिया, पुस्तक डिजाइन, उत्पादन, विपणन और वितरण, का व्यावहारिक अनुभव प्रदान किया गया। व्याख्यानों, कार्यशालाओं और प्रकाशन विशेषज्ञों के साथ संवाद के माध्यम से, इस कार्यक्रम का उद्देश्य प्रतिभागियों को समकालीन प्रकाशन उद्योग में आवश्यक तकनीकी ज्ञान और व्यापक दृष्टिकोण से लैस करना रहा।

विभिन्न व्याख्यानों के माध्यम से, प्रकाशन उद्योग के प्रतिष्ठित व्यक्तित्वों और विशेषज्ञों ने पुस्तक प्रकाशन पाठ्यक्रम के प्रतिभागियों को प्रकाशन की जिम्मेदारियों, अवसरों और लगातार विकसित हो रही चुनौतियों से परिचित कराया। इसके अंतर्गत, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस इंडिया के प्रबंध निदेशक श्री मानस सैकिया द्वारा 'प्रकाशन एक करियर के रूप में' और प्राइमस बुक्स के प्रकाशक डॉ. प्रसून चटर्जी द्वारा 'पुस्तकों की दुनिया' पर आयोजित सत्रों ने प्रतिभागियों को प्रकाशन उद्योग के दायरे, डिजिटल प्रकाशन, ऑडियोबुक, अधिकार प्रबंधन में उभरते अवसरों और इस क्षेत्र में प्रौद्योगिकी और एआई की बढ़ती भूमिका संबंधी विचार साझा किए। इन सत्रों में संपादकों की भूमिका, पाठक व्यवहार, अकादमिक और व्यावसायिक प्रकाशन, पीयर रिव्यू सिस्टम, साहित्यिक चोरी की जाँच, पुस्तक निर्माण, विपणन और वितरण जैसे विषयों को भी शामिल किया गया।

इस शृंखला की अगली कड़ी में जादवपुर विश्वविद्यालय के प्रो. अभिजीत गुप्ता ने चार व्याख्यान दिए, जिनमें चीन और कोरिया की प्रारंभिक वुडब्लॉक प्रिंटिंग परंपराओं से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी के यूरोप में गुटेनबर्ग की क्रांति और जेसुइट मिशनरियों के माध्यम से भारत में प्रिंट के आगमन तक लिखित शब्द की यात्रा का वर्णन किया। उन्होंने भारतीय भाषाओं में प्रिंटिंग की स्थापना में सेरामपुर मिशन प्रेस की भूमिका का विश्लेषण किया तथा भारतीय अंग्रेजी प्रकाशन के तीन व्यापक चरणों पर चर्चा की—टैगोर के नोबेल पुरस्कार और भारतीय स्वामित्व वाले प्रेस के उदय से लेकर 1987 में पेंगुइन इंडिया के परिवर्तनकारी प्रभाव तक—और अंत में अकादमिक प्रकाशन और भारत के भीतर मजबूत अंतर-भाषा अनुवाद नेटवर्क की तत्काल आवश्यकता पर प्रकाश डाला।

स्टर्लिंग पब्लिशर्स के अध्यक्ष और प्रबंध निदेशक श्री एस.के. घई ने विश्व के तीसरे सबसे बड़े प्रकाशन बाजार के रूप में भारत की स्थिति पर प्रकाश डाला और भारतीय भाषा के प्रकाशन, अधिकार व्यापार और डिजिटल परिवर्तन में अवसरों के बारे में बात की। वहीं, फ्रैंकफर्ट बुक फेयर की उपाध्यक्ष सुश्री क्लाउडिया कैसर ने सामाजिक परिवर्तन के एक माध्यम के रूप में प्रकाशन पर एक वैश्विक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया और ऑडियोबुक और एआई के उदय सहित प्रमुख रुझानों की रूपरेखा प्रस्तुत की। प्रभात प्रकाशन के निदेशक श्री प्रभात कुमार ने हिंदी प्रकाशकों की जिम्मेदारियों और संपादकीय गुणवत्ता और पठन-संस्कृति में निवेश की आवश्यकता पर बात की। वहीं, एनबीटी के अध्यक्ष प्रो. मिलिंद सुधाकर मराठे ने एआई-सहायता प्राप्त संपादन और प्रिंट-ऑन-डिमांड से लेकर कॉपीराइट संरक्षण के लिए ब्लॉकचेन तक, प्रकाशन के तकनीकी परिवर्तन पर प्रकाश डाला और दृढ़ता से कहा कि मानवीय संपादकीय निर्णय केंद्रीय भूमिका में रहना चाहिए।

न्यास के मलयालम भाषा के संपादक श्री रुबिन डी' क्रूज़ ने भारतीय भाषा के प्रकाशन को व्यापक रूप से समझने के लिए मलयालम प्रकाशन उद्योग का उदाहरण दिया। उन्होंने सोलहवीं शताब्दी के मिशनरी प्रकाशनगृहों से इसकी ऐतिहासिकता को जोड़ते हुए इस बात पर प्रकाश डाला कि कैसे प्रगतिशील लेखक आंदोलन, सहकारी प्रकाशन और केरल के 12,000 सार्वजनिक

पुस्तकालयों ने भारत की सबसे मजबूत पठन संस्कृतियों में से एक का निर्माण किया। हार्पर कॉलिन्स इंडिया के सीईओ श्री अनंत पद्मनाभन ने खोज क्षमता और विपणन पर एक व्यावहारिक सत्र प्रस्तुत किया, जिसमें उन्होंने तर्क दिया कि एक सशक्त पांडुलिपि केवल शुरुआत है—आधुनिक प्रकाशकों को पाठक संपर्क, लेखक ब्रांडिंग, कवर डिजाइन और मौखिक प्रचार की स्थायी शक्ति में समान रूप से निवेश करना चाहिए।

डॉ. प्रसून चटर्जी ने अकादमिक प्रकाशन पर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस की सुश्री मल्लिका घोष ने शैक्षिक और पाठ्यपुस्तक प्रकाशन पर, पेंगुइन रैंडम हाउस की प्रेमांका गोस्वामी ने व्यापारिक प्रकाशन पर और पेंगुइन रैंडम हाउस की ही सोहिनी मित्रा ने बच्चों और किशोरों के प्रकाशन पर बात की। डॉगियर्स और सिनेमन टील पब्लिशिंग के संस्थापक श्री लियोनार्डो फर्नांडीज ने तीन रोचक सत्रों का नेतृत्व किया, जिनमें उन्होंने एक स्वतंत्र पुस्तक दुकान चलाने की वास्तविकताओं, स्व-प्रकाशन के अवसरों और चुनौतियों तथा स्वतंत्र प्रकाशनगृहों की व्यावसायिक गतिशीलता के बारे में बात की। सत्र का समापन बेस्टसेलिंग लेखक श्री शांतनु गुप्ता के एक ज्ञानवर्धक सत्र के साथ हुआ, जिन्होंने प्रकाशन पर लेखक का दृष्टिकोण साझा किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि हालाँकि अनुबंध औपचारिक शर्तें स्थापित करते हैं, सफल प्रकाशन लेखकों और प्रकाशकों के बीच विश्वास, सहयोग, संचार और आपसी सम्मान पर निर्भर करता है।

इस प्रकार छह सप्ताह तक संचालित पुस्तक प्रकाशन पाठ्यक्रम 2026 ने प्रतिभागियों को एक ऐसे उद्योग का व्यापक और प्रेरणादायक दृष्टिकोण प्रदान किया, जो भारत और दुनियाभर के पाठकों तक ज्ञान, संस्कृति और विचारों को पहुँचाने के तरीके को लगातार आकार दे रहा है।

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत की पुस्तक 'ओकुहेपा' को 'अखिल भारतीय प्रो. विष्णुकांत शास्त्री पुरस्कार'

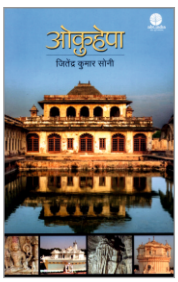

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत द्वारा वर्ष 2024 में प्रकाशित यात्रा-वृत्तांत 'ओकुहेपा' के लिए सचिव, मुख्यमंत्री (सीएमओ), राजस्थान के पद पर कार्यरत डॉ. जितेंद्र कुमार सोनी को मध्य प्रदेश साहित्य अकादेमी की ओर से 'अखिल भारतीय प्रो. विष्णुकांत शास्त्री पुरस्कार' प्रदान किए जाने की घोषणा की गई। विदित हो कि इस पुस्तक के लिए लेखक को राजस्थान सरकार का 'हिंदी सेवी सम्मान' भी मिल चुका है। अंग्रेजी, हिंदी, राजस्थानी और पंजाबी भाषाओं में कुशल डॉ. सोनी ने साहित्य की विविध विधाओं में सर्जना कर साहित्य के क्षेत्र में अपना एक अलग स्थान स्थापित किया है। 'ओकुहेपा' (हिंदी यात्रा-वृत्तांत), 'उम्मीदों के चिराग', 'रेगमाल' (हिंदी कविता-संग्रह), 'रणखार' (राजस्थानी कविता-संग्रह), 'एडियोस' (हिंदी कहानी-संग्रह) 'भरखमा' (राजस्थानी कहानी-संग्रह), 'यादावरी' (हिंदी डायरी), 'म्हारै पांती रा पाना' (पंजाबी से राजस्थानी अनुवाद) आदि उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

'अंतरराष्ट्रीय योग दिवस' एवं 'योग संगम' का आयोजन

अंतरराष्ट्रीय योग दिवस 2026 के उपलक्ष्य में, 19 जून, 2026 की सुबह राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत के मुख्यालय, नई दिल्ली में योगगुरु डॉ. पूरनचंद के मार्गदर्शन में योगाभ्यास सत्र का आयोजन किया गया। न्यास के अधिकारियों एवं कर्मचारियों ने उत्साहपूर्वक इस सत्र में भाग लिया, योग के महत्व को समझा तथा बेहतर स्वास्थ्य, मानसिक संतुलन और समग्र कल्याण के लिए अपने दैनिक जीवन में नियमित रूप से योग को अपनाने का संकल्प लिया।

इसके साथ ही, अंतरराष्ट्रीय योग दिवस 2026 के देशव्यापी समारोह के हिस्से के तौर पर, 21 जून, 2026 को रा.पु. न्यास के मुख्यालय में 'योग संगम' कार्यक्रम का आयोजन हुआ। इस कार्यक्रम में कर्मचारियों ने उत्साहपूर्वक भाग लिया और इसका आयोजन भारत के माननीय प्रधानमंत्री के नेतृत्व में हो रहे राष्ट्रीय कार्यक्रम के साथ-साथ और उसके अनुरूप किया गया। कार्यक्रम के सफल आयोजन के लिए भारत सरकार के आयुष मंत्रालय द्वारा न्यास को 'योग संगम पत्र' प्रदान किया गया।

योग केवल एक अभ्यास नहीं, बल्कि शरीर, मन और आत्मा के बीच संतुलन स्थापित करने का माध्यम है। यह हमें स्वस्थ जीवनशैली अपनाने, मानसिक शांति प्राप्त करने और समाज के समग्र कल्याण के प्रति जागरूक बनने की प्रेरणा देता है।

"योग हमें यह अनुभूति कराता है कि हमारा कल्याण, हमारे आस-पास की दुनिया के कल्याण से जुड़ा हुआ है।"

—माननीय प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी

श्रद्धांजलि
डॉ. सुभाष सी. काश्यप

राष्ट्रीय स्तर पर प्रशंसित संविधान विशेषज्ञ और राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत द्वारा प्रकाशित 'हमारी संसद' और 'हमारा संविधान' जैसी राष्ट्रीय बेस्टसेलर पुस्तकों सहित 100 से अधिक पुस्तकों के प्रसिद्ध लेखक, 1983 से 1990 तक लोकसभा के महासचिव, भारत की पहली लोकसभा से लेकर नौवीं लोकसभा तक 37 वर्षों से अधिक समय तक भारत की संसद में अपनी सेवाएँ देने वाले पद्मभूषण सम्मान से सम्मानित डॉ. सुभाष सी. काश्यप का 04 जून, 2026 को प्रातः उनके आवास पर 97 वर्ष की आयु में निधन हो गया। राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करता है। उनका साहित्यिक अवदान चिरस्मरणीय रहेगा।

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत के उपक्रम राष्ट्रीय बाल साहित्य केंद्र द्वारा समर कैंप विशेष कार्यक्रम का आयोजन

एनबीटी बैंगलोर पुस्तक विक्रय केंद्र में समर कैंप का आयोजन, जिसका संचालन अनुपमा ने किया, जिन्होंने छात्रों को कहानी सुनाने और पेंटिंग जैसी रोमांचक गतिविधियों में शामिल किया।

सिकंदराबाद के ओल्ड मडफोर्ट, गुनरॉक एन्क्लेव, मडफोर्ट धोबी घाट स्थित गवर्नमेंट हाई स्कूल में समर कैंप का आयोजन, जिसमें मनोरंजक कहानी-वाचन सत्र और शानदार मैजिक शो।

एनबीटी हैदराबाद पुस्तक विक्रय केंद्र में समर कैंप का आयोजन, जिसमें कलावती का मनोरंजक कठपुतली शो।

दिल्ली पब्लिक स्कूल, वसंत कुंज में बाल-गतिविधि का आयोजन, जिसमें स्वेच्छा प्रसाद द्वारा जादुई कहानी-पाठ।

केरल के कालूर में 'माई लाइब्रेरी' में समर कैंप के तहत कहानीकार और शिक्षक नितिन करुमाली द्वारा संवादात्मक सत्र का आयोजन।

पुस्तकें मिलीं

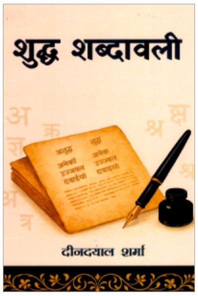

शुद्ध शब्दावली

दीनदयाल शर्मा

हिंदी व्याकरण से संबंधित यह पुस्तक बच्चों और बड़ों, सबके लिए उपयोगी है। इस पुस्तक में शुद्ध शब्दावली के लिए शब्दों की वर्तनी, उच्चारण और अर्थ का ध्यान रखना बहुत ही अच्छे ढंग से बताया गया है। इसमें उपसर्ग, प्रत्यय, पर्यायवाची शब्द, विलोम शब्द, मुहावरे और लोकोक्तियों का ज्ञान भी कराया गया है।

संपर्क प्रकाशन, हनुमानगढ़ संगम, राजस्थान

पृ. 64; रु. 199.00

जीवन का उत्कर्ष

रीता सिवानी

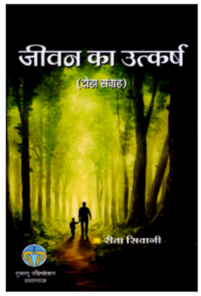

प्रस्तुत पुस्तक में दोहा के माध्यम से जीवन के विविध रंगों एवं अनुभूतियों को व्यक्त किया गया है। ये दोहे मानव-मन की सहज अभिव्यक्तियों को स्वर प्रदान करते हैं। इसमें कवयित्री ने स्त्री-विमर्श के बहाने समाज के कटु यथार्थ को भी अभिव्यक्त किया है। इन दोहों में समकालीन बोध के अलावा शिल्प और कथ्य की पारंपरिक शैली भी सहज रूप में दिखती है।

गुफ्तगू पब्लिकेशन, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश

पृ. 112; रु. 200.00

धुएँ के बादल

महाबीर रवांल्टा

प्रस्तुत पुस्तक खाई क्षेत्र की लोककथा पर आधारित नाटक है। इस नाटक में कुल चार चरण हैं—आरंभ, मध्य, चरम और अंत। प्रथम तीन चरणों में दो-दो दृश्य तथा चौथे चरण में तीन दृश्य हैं। पुस्तक में ग्रामीण लोगों के अपने आंचलिक भाषा में सरल वार्तालाप होने के साथ ही पर्दे पर ग्रामीण वातावरण की दृश्यावली को दिया गया है। ये दृश्य न केवल सजीवता का एहसास कराते हैं, बल्कि मनमोहक भी हैं।

समय साक्ष्य, देहरादून, उत्तराखंड

पृ. 84; रु. 125.00

माँ कभी मरती नहीं

संपादक : **डॉ. जवाहर धीर**

प्रस्तुत पुस्तक में 19 आलेख एवं लघु कथाओं का तथा 40 कविताओं का संकलन किया गया है। पुस्तक में जिन रचनाकारों को सम्मिलित किया गया है, उन सभी की चुनी हुई श्रेष्ठतम रचनाएँ इसमें शामिल हैं। यह संकलन लेखक की माँ को समर्पित है, अतः इसमें सभी रचनाएँ माँ पर ही आधारित हैं। लेखक ने अपने संपादकीय में भी 'माँ तो जीती है हजारों सदियों तक' शीर्षक से एक माँ और उसकी संतान के संबंधों का सारगर्भित विश्लेषण किया है।

आस्था प्रकाशन गृह, जालंधर, पंजाब

पृ. 136; रु. 295.00

तुम गुलाब बन जाओ

सुकीर्ति भटनागर

प्रस्तुत बाल कविता-संग्रह में 40 कविताएँ हैं। इन कविताओं को पढ़कर बच्चों का न केवल ज्ञानवर्धन होगा, अपितु उनके तन-मन में स्फूर्ति भी हो सकेगी। इनमें ज्यादातर कविताएँ तो बच्चों के मन में उठते कुछ सवालों के उत्तर भी देती हैं। इन कविताओं के शीर्षक भी बहुत ही मजेदार हैं, जैसे—'सब बूढ़े हो जाते', चूहों का सफाया', 'चटोरी बहना', 'सहज पके से मीठा होए', 'सबसे गहरा नाता', 'तुम गुलाब बन जाओ' इत्यादि।

साहित्यागार, जयपुर, राजस्थान

पृ. 96; रु. 150.00

पिंकी का सपना

किरण सिंह

प्रस्तुत बाल कविता-संग्रह में बच्चों के लिए बहुत ही रोचक कविताएँ हैं। इन कविताओं को पढ़कर बच्चे बहुत आनंदित होंगे। पुस्तक में कविताओं के साथ मनमोहक चित्रांकन भी दिया गया है। ये कविताएँ बच्चों का मनोरंजन करने वाली तो हैं ही उनका ज्ञानवर्धन भी करने वाली हैं। कुछ कविताओं के शीर्षक तो बच्चों के लिए बहुत पसंदीदा हैं, जैसे कि 'बिट्टू राजा हठ कर बैठे', 'मुनिया बर्तन न धोएगी', 'बंदर मामा चले स्कूल', 'बात बड़ों की अब लो मान', 'मुझे राखियाँ बाँध दो' इत्यादि।

वनिका पब्लिकेशन, नई दिल्ली

पृ. 64; रु. 150.00

कल जब कथा कहेंगे

सुधा भार्गव

वर्तमान समय में हर क्षेत्र में निरंतर परिवर्तन हो रहे हैं। ऐसे में लेखिका ने कल्पना की है कि बच्चों को रोबोट्स पढ़ाएँगे, कहानी सुनाएँगे। कहानियों में पशु-पक्षी तो होंगे, लकिन उनमें अधिकांशतः रोबोट्स ही होंगे। प्राकृतिक-अप्राकृतिक जीवों में अंतर करना मुश्किल हो जाएगा। ऐसे परिवेश को लेखिका ने अपनी कहानियों का हिस्सा बनाया है। प्रस्तुत पुस्तक में इसी प्रकार की अपनी दस बाल कहानियों को लेखिका ने संगृहीत किया है। कुछ कहानियों के शीर्षक इस प्रकार हैं—'बादल बरस पड़े', 'गोलू मास्टर', 'बुद्धि का खजाना', 'कहानियों का शहर' आदि।

प्रवासी प्रेम पब्लिशिंग, इंडिया, साहिबाबाद, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश

पृ. 72; रु. 290.00

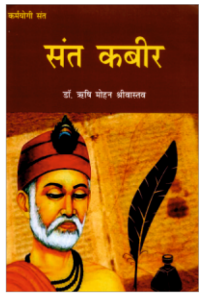

कर्मयोगी संत : संत कबीर

डॉ. ऋषि मोहन श्रीवास्तव

संत कबीर एक ऐसे संत हुए हैं, जिन्होंने समाज में व्याप्त कुरीतियों, रूढ़ियों, अंधविश्वासों के खिलाफ आवाज उठाई। उन्होंने अपने दोहों के माध्यम से समाज को जागरूक करने का प्रयास किया। प्रस्तुत पुस्तक में संत कबीर के जीवन के विषय में संक्षिप्त परिचय देते हुए लेखक ने उनके कुछ प्रसिद्ध दोहों का भावार्थ सहित विश्लेषण भी किया है।

पूनम प्रकाशन, सीलमपुर, दिल्ली

पृ. 20; रु. 80.00

बूझ सहेली मेरी पहेली

प्रकाश तातेड़

प्रस्तुत पुस्तक में पहेलियों के साथ कुछ नए प्रयोग किये गए हैं। इसमें सिर्फ सामान्य तरीके से पहेलियाँ नहीं बूझी गई हैं। सबसे पहले 70 पहेलियों को चित्र के साथ प्रस्तुत किया गया है और पहेलियों को उनके सही उत्तर वाले चित्र से मिलान करने को कहा गया है। फिर तीन अक्षर वाली, चार अक्षर वाली और एक अक्षर वाली पहेलियों का उत्तर पूछा गया है। रिक्त स्थानों की पूर्ति, सार्थक अक्षर के संयोजन से सही शब्द-निर्माण, काव्य-पहेली एवं शब्द सोपान जैसी विधियों से खेल-खेल में रोचक तरीके से बच्चों की कल्पनाशीलता बढ़ाती पहेलियों से सजी यह पुस्तक बाल पाठकों के लिए पठनीय एवं उपयोगी है।

सुभद्रा पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली

पृ. 80; रु. 250.00

शिवम की पौधशाला

(बाल उपन्यास)

डॉ. प्रमोद कुमार अग्रवाल

गाँवों में पौधशालाओं में बच्चों की भी सहायता ली जाती है। कुछ बच्चे बड़ों के बराबर काम करते हैं। ऐसी ही एक पात्र क्रांति पौधशाला सँभालती है। उसके छोटे भाई शिवम का पढ़ाई में मन नहीं लगता है और वह लैपटॉप पर इंटरनेट द्वारा पौधों का बिक्री का काम देखता है। उसे अपने खेत पर मजदूरी करने को विवश एक लड़की सती से प्रेम हो जाता है। इस प्रकार इस उपन्यास में भारत की कृषि व्यवस्था, दो विधवा स्त्रियों का जीवट, डिजिटलीकरण की क्रांति और शिवम-सती की प्रेम-कथा एक साथ बहुत कुछ को लेखक ने पिरोया है।

शिवांक प्रकाशन, दिल्ली

पृ. 68; रु. 195.00

चिड़िया चली चाँद के देश

चद्रपाल सिंह यादव 'मयंक'

संपादक : **कामना सिंह**

यह एक बाल कविता-संग्रह है। इसमें 76 बाल कविताएँ संगृहीत हैं। इस पुस्तक में 'मयंक' जी की चुनी हुई बाल कविताओं के साथ-साथ बालगीत भी शामिल है। ये रचनाएँ रोचक और ज्ञानवर्धक हैं। कवि ने बच्चों के छोटे-से-छोटे क्रियाकलापों पर अपनी लेखनी चलाई है। इन कविताओं के माध्यम से कवि ने बच्चों को संस्कारित करने तथा उनके शैक्षिक-नैतिक विकास का प्रयास किया है। इनमें से कुछ कविताओं के शीर्षक इस प्रकार हैं—'आया मधुर वसंत', 'पढ़ने में मन खूब लगाओ', 'सादा जीवन, उच्च विचार'; 'हम देश की मुस्कान हैं', 'देश हमारा' एवं 'शहीद की समाधि' इत्यादि।

श्वेतवर्णा प्रकाशन, दिल्ली

पृ. 112; रु. 249.00

दिन में सौ चाँद

(बाल कथा-संग्रह)

गोविंद शर्मा

प्रस्तुत पुस्तक में कुल 15 बाल कथाओं को संगृहीत किया गया है। लेखक ने अपनी कहानियों में सीख और मनोरंजन दोनों का भरपूर समावेश किया है। इन कहानियों के माध्यम से पाठकों के लिए बुद्धि-प्रयोग की प्रेरणा देना लेखक का ध्येय है। 'दिन में सौ चाँद', 'सोनचिड़ी और सोन मछली', 'जैसे को तैसा', 'शहद का लालच' एवं 'सवाल का बवाल' आदि कहानियाँ अपने शीर्षक से पढ़ने की उत्सुकता जगा देती हैं।

साहित्यागार, जयपुर, राजस्थान

पृ. 54; रु. 175.00

nbt.india
एकः सूते सकलम्

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास की द्विमासिक पत्रिका

पुस्तक संस्कृति

के सदस्य बनें

सदस्यता प्रपत्र

नाम : ____________________

पता : ____________________

जिला : __________ शहर __________ राज्य __________ पिन कोड __________

फोन : ____________________ ई-मेल : ____________________

मैं राशि रु. (अंतर्देशीय : 225/- रु.; अंतर्राष्ट्रीय : 1000/- रु.) __________ वार्षिक सदस्यता हेतु (बैंक ड्राफ्ट/नगद) __________ ड्राफ्ट संख्या __________ बैंक एवं शाखा द्वारा जारी __________ भेज रहा/रही हूँ (संलग्न)।

सदस्यता शुल्क बैंक ड्राफ्ट द्वारा (नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया के पक्ष में देय), सदस्यता प्रपत्र के साथ निम्नलिखित पते पर भेजें :

संपादक
पुस्तक संस्कृति
राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, वसंत कुंज,
नई दिल्ली-110070
ई-मेल : editorpustaksanskriti@gmail.com
दूरभाष : 011-26707876

ऑनलाइन शुल्क भेजने का विवरण इस प्रकार है :

For	National Book Trust, India
Bank	Canara Bank
Branch	Vasant Kunj, New Delhi-110070
A/c No.	3159101000021
IFSC Code	CNRB0003159
MICR Code	110015187

शुल्क भेजने के पश्चात कृपया फोन अथवा पत्र द्वारा सूचना अवश्य दें।

सदस्यता के आवेदन हेतु इस सदस्यता प्रपत्र की प्रतिलिपि का उपयोग करें।

RNI NO. DELHIN / 2016 / 68219

मनोरंजन, ज्ञान और जिज्ञासा की अनूठी दुनिया!

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत के कुछ नए प्रकाशन

पगड़ी पुरुष

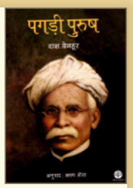

दाश बेनहूर

अनु. : **अरुण होता**

प्रस्तुत पुस्तक मूल ओड़िआ से हिंदी में अनूदित एक जीवनचरित उपन्यास है। यह उपन्यास ओड़िआ साहित्यकार एवं 'उत्कल-गौरव' के नाम से प्रसिद्ध मधुसूदन दास (1848-1934) की जीवनी पर आधारित है। इसमें तत्कालीन ओड़िआ जनजीवन और इतिहास की कहानी अत्यंत सहज और सरल ढंग से प्रस्तुत की गई है।

पृ. 575; रु. 915.00

चंद्र बस्ती का रहस्य

ओमप्रकाश क्षत्रिय 'प्रकाश'

प्रस्तुत कृति चंद्र बस्ती के रहस्यों पर केंद्रित विज्ञान, रोमांच और दोस्ती की अनूठी दास्तान से युक्त रोचक बाल उपन्यास है। पृथ्वीवासी किशोर युवक ब्रो एक गुप्त मिशन के तहत, अपने दोस्त देबू के बुलावे पर चंद्रमा की अत्याधुनिक गुफानुमा बस्ती में पहुँचता है। वहाँ पहुँचकर जैसे ही वह इस आधुनिक दुनिया को अचरज से देखना शुरू करता है, तभी उसकी नजर एक संदिग्ध व्यक्ति पर पड़ी, जो रोबोट्स के साथ मिलकर बस्ती को नुकसान पहुँचाने की कोशिश कर रहा था। फिर आगे क्या हुआ? जानने के लिए जिज्ञासा जगाती पुस्तक।

पृ. 115; रु. 250.00

भालू की माँद

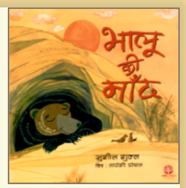

सुशील शुक्ल

एक बाघ बंदर का पीछा करते-करते भालू की माँद तक पहुँच जाता है। वहाँ बाघ का आमना-सामना भालू से होता है। फिर आगे क्या हुआ? उत्सुकता जगाने वाली आकर्षक चित्रों से सुसज्जित एक रोचक बाल कहानी।

पृ. 24; रु. 70.00

मिट्ठू

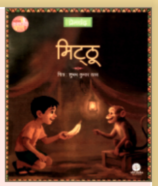

प्रेमचंद

यह एक बंदर मिट्ठू और एक छोटे बच्चे गोपाल के आपसी निश्छल प्रेम की कहानी है। वे दोनों दोस्त बन जाते हैं और एक-दूसरे की मदद करते हैं। सच्चे दोस्त वही होते है, जो कठिन समय में एक-दूसरे की मदद करने को तत्पर हों।

पृ. 24; रु. 65.00

सबसे सुंदर लड़की

विष्णु प्रभाकर

सुंदरता रूप की नहीं, गुणों की होती है। जो लोग आवश्यकता पड़ने पर बिना किसी पूर्वाग्रह के दूसरों की मदद करते हैं, वही इस संसार में सबसे सुंदर हैं। कनक, हर्ष और मंजरी के बहाने बच्चों को यह मानवीय सीख देती महत्वपूर्ण पुस्तक।

पृ. 28; रु. 75.00

दो गौरैया

भीष्म साहनी

प्रेम, वात्सल्य और करुणा—ये ऐसे भाव हैं, जो मनुष्यों को प्रकृति से और सभी प्राणियों को एक-दूसरे से जोड़ते हैं। इस कहानी में एक घर में दो गौरैयों के आने, घरवालों के उन्हें भगाने के सौ जतन करने और अंततः उन्हें स्वीकार कर लेने की रोचक कहानी है।

पृ. 32; रु. 80.00

कमाल की जीभ

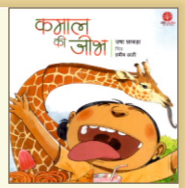

उषा छाबड़ा

भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियों जैसे—जिराफ, शेर, बाज, मेंढक, कठफोड़वा, पैनगोलिन, डॉल्फिन के अतिरिक्त, मनुष्य की जीभ की गुणवत्ता के संबंध में रोचक जानकारी देने वाली, सुंदर चित्रों से सुसज्जित बच्चों के लिए सूचनापरक पुस्तक।

पृ. 24; रु. 70.00

nbt.india
एकः सूते सकलम्

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार

5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070

फोन : 011-35464713, 011-35464766 ● **ई-मेल** : nro.nbt@nic.in

वेबसाइट : www.nbtindia.gov.in